

“बनारस अखबार अभी-कभी जनता के हित में कुछ ऐसा भी लिख लेता था, जिस पर अधिकारियों को आपत्ति होती। एक बार इसने पुलिस द्वारा की गई जियादतियों का पर इतना कड़ा लिखा दिया कि इस पर 1000 रुपये का जुर्माना हुआ।”^{११} अंग्रेजी सरकार ने आर्थिक दंड और कानूनी दबाव के माध्यम से प्रेस को नियंत्रित करने का प्रयास किया, किंतु भारतीय पत्रकारिता ने इन चुनौतियों के बीच भी स्वतंत्रता, सत्य और राष्ट्रहित की आवाज़ को जीवित रखा। बनारस अखबार का संघर्ष आज भी भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में प्रेरणा का स्रोत है।

पयामे आजादी:-फरवरी 1857 में दिल्ली से प्रकाशित पयामे आजादी हिन्दी पत्रकारिता में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस पत्र के प्रवर्तक अजीमुल्ला खां स्वयं स्वतंत्रता सेनानी थे। इस पत्र ने दिल्ली की जनता में स्वतंत्रता प्रेम की आग फूंक दी।^{१२}

9वीं शताब्दी में जब अंग्रेज़ी शासन ने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण को बढ़ाया, तब भारतीय अखबारों ने इसके विरुद्ध जनमत तैयार करना आरंभ किया। इसी कड़ी में 1857 के विद्रोह के समय प्रकाशित ‘पयामे आज़ादी’ एक ऐसा पत्र था, जिसने सीधे-सीधे ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दी। यह अखबार केवल समाचार नहीं देता था, बल्कि क्रांति का संदेश (पयाम) देता था।

इसके सम्पादकों में नाना साहिब धुन्धुपंत थे। इसे देशभक्त अजीमुल्ला खान का पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। इस पत्र में मंगल पाण्डे, तांत्या टोपे, कुंवर सिंह इत्यादि के बारे में सूचनाएं छपी जाती थी। बादशाह बहादुर शाह जफर का ऐतिहासिक यह संदेश इसी पयामे आजादी में छपा था- “हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों उठो, भाई उठो, खुदा ने इन्सान को जितनी बरकतें अदा की हैं इनमें सबसे कीमती बरकत आजादी हैं।’ इसकी प्रतियां गांव और छावनियों को भेजी गयीं। यही पहला पत्र था जिसके कई सम्पादकों को फांसी दी गयी। पाठकों तक को राजद्रोही घोषित कर यातनाएं दी गयी।”^{१३} औपनिवेशिक भारत में प्रेस केवल सूचना का माध्यम नहीं था, बल्कि राष्ट्रीय चेतना, स्वतंत्रता संग्राम और जनमत निर्माण का सशक्त हथियार था। ‘पयामे आज़ादी’ उर्दू भाषा का एक क्रांतिकारी अखबार था, जिसने 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के दौरान अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध जनभावनाओं को स्वर दिया। इस निर्भीक पत्रकारिता के कारण ब्रिटिश सरकार ने इस अखबार पर कठोर दमनकारी नीतियाँ अपनाईं। “यह ऐसा शोला था जिसने अपनी प्रखर एवं तेजस्वी वाणी से जनता में स्वतंत्रता का प्रदीप्त स्वर फूँका। अल्प समय तक निकलने वाला इस पत्र ने तत्कालीन वातावरण में ऐसी जलन पैदा कर दी, जिससे ब्रिटिश सरकार घबड़ा उठी तथा उसने पत्र को बंद कराने के लिए कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। जिस व्यक्ति के पास भी इस पत्र की कोई प्रति मिल जाती तो उसे अनेक यातनाएं दी जाती। इसकी

११. डॉ. मदन गोपाल, हिंदी पत्रकारिता और स्वतंत्रता संग्राम, पृष्ठ-12

१२. डॉ. चेतन अरविन्द मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास, पृष्ठ-34

१३. डॉ. मदन गोपाल, हिन्दी पत्रकारिता और स्वतंत्रता संग्राम, पृष्ठ-13

सारी प्रतियों को जब्त करने का विशेष अभियान तत्कालीन सरकार ने चलाया, फिर भी इस पत्र ने जन-जागृति के क्षेत्र में सराहनीय योगदान दिया।”^{१४}

अंग्रेज़ी सरकार ने ‘पयामे आज़ादी’ पर अनेक प्रकार की दमनकारी नीतियाँ अपनाईं। अखबार को देशद्रोही घोषित कर इसके प्रकाशन पर रोक लगा दी गई। जिस प्रेस से यह अखबार छपता था, उसे सील कर दिया गया, ताकि भविष्य में इसका पुनः प्रकाशन न हो सके। अखबार से जुड़े लोगों पर राजद्रोह के आरोप लगाए गए, कई को जेल और कठोर दंड दिए गए। सरकार ने इस पत्र की प्रतियों को नष्ट करने का प्रयास किया, ताकि इसके विचार जनता तक न पहुँच सकें। अन्य पत्रों को चेतावनी दी गई कि यदि उन्होंने इसी प्रकार की सामग्री प्रकाशित की, तो उन्हें भी इसी अंजाम का सामना करना पड़ेगा। “आज भारत में पयामे आज़ादी की एक भी प्रति उपलब्ध नहीं है, लेकिन लंदन के म्यूजियम में इसकी एक प्रति सुरक्षित है।”^{१५} पयामे आज़ादी’ पर अंग्रेज़ी सरकार द्वारा अपनाई गई दमनकारी नीति औपनिवेशिक शासन की असहिष्णुता और भय को उजागर करती है। यह अखबार स्वतंत्रता, सत्य और राष्ट्रीय चेतना का वाहक था। ब्रिटिश सत्ता ने इसे दबाने का हर संभव प्रयास किया, किंतु इसके विचार भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की चेतना में स्थायी रूप से समाहित हो गए। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में ‘पयामे आज़ादी’ एक ऐसा अध्याय है, जो यह सिखाता है कि सच्ची पत्रकारिता दमन से नहीं डरती, बल्कि उसी में और अधिक मजबूत होती है।

हिंदी प्रदीप:-”प्रयाग की हिंदी प्रवर्धनी सभा द्वारा हिंदी प्रदीप का प्रकाशन सितंबर 1877 में हुआ, जिसका उद्घाटन भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने किया।”^{१६} इसके संपादक बालकृष्ण भट्ट थे, जिन्होंने अपने निर्भीक लेखन और राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के माध्यम से अंग्रेजी शासन की अन्यायपूर्ण नीतियों का प्रखर विरोध किया। ‘हिंदी प्रदीप’ ने भारतीय समाज में राजनीतिक चेतना जगाने का कार्य किया, जिसके कारण यह पत्र शीघ्र ही ब्रिटिश सरकार की आंखों की किरकिरी बन गया। ‘हिंदी प्रदीप’ हिंदी का पहला ऐसा पत्र बना जो सरकार के कोप का दो बार शिकार हुआ। ‘हिंदी प्रदीप’ के बंद होने का एक बड़ा कारण श्रीमाधव शुक्ल की कविता बम क्या है, छपी थी। “शुक्ल जी हिंदी प्रदीप के नियमित लेखक थे। बंग-भंग आंदोलन चालू था और उसी समय कलकत्ता में बम बनने लगे और फेंके जाने लगे। अंग्रेज सरकार उनसे बहुत परेशान थी। ‘हिंदी प्रदीप’ से 3000 रुपये की जमानत मांगी गई, जो दे पाना संभव नहीं थी। अब ‘हिंदी प्रदीप’ को निकले 31 वर्ष हो चुके थे। पत्र के दो सौ ग्राहक भी नहीं बन पाए थे। ...कुल मिलाकर स्थिति जटिल हो गई। अतः 1908 में इसे बंद करन पड़ा”^{१७} ब्रिटिश शासन ने ‘हिंदी प्रदीप’ पर कई बार जमानत राशि लगाने, कठोर चेतावनी देने और

१४. डॉ. अर्जुन तिवारी, हिन्दी पत्रकारिता का बृहद् इतिहास, पृ०-96

१५. डॉ. चेतन अरविन्द मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास, पृ०-34

१६. डॉ. अर्जुन तिवारी, हिन्दी पत्रकारिता का बृहद् इतिहास, पृष्ठ-111

१७. डॉ. मंगला अनुजा, भारतीय पत्रकारिता नींव के पत्थर, पृष्ठ-128

कानूनी नोटिस जारी करने जैसे दमनात्मक उपाय अपनाए। विशेष रूप से वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट, 1878 के अंतर्गत 'प्रदीप' पर दबाव डाला गया, जिससे पत्र की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित हो गई। सरकार ने आर्थिक और कानूनी दबाव डालकर पत्र को बंद करा दिया था। आज:-"राष्ट्रभक्त शिवप्रसाद गुप्त की अथाह साधना के कारण श्रीकृष्ण जन्माष्टमी संवत् 1977 को तदनुसार सितंबर 1920 को 'आज' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ"^{१८} "1930 में नमक सत्याग्रह के समय भाषण करने के कारण पराड़कर जी को गिरफ्तार कर लिया गया। 11 मई, 1930 को 'आज' का प्रकाशन बन्द करना पड़ा। 29 मई 1930 को फिर से 'आज' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। देशभक्तों को फांसी देने पर पराड़कर जी की लिखी टिप्पणी मार्मिक और हृदय विदारक है- 'सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव सोमवार को संध्या समय फांसी पर लटका दिए गए। साधारणतः फांसी सबेरे दी जाती है।"^{१९} यह घटना बताती है कि स्वतंत्रता संग्राम में पत्रकारिता केवल सूचना का माध्यम नहीं, बल्कि विचार और प्रतिरोध का सशक्त हथियार थी, जिसे दबाने के लिए अंग्रेजी सरकार ने हर संभव प्रयास किया। अंग्रेजी सरकार ने भारतीय प्रेस को नियंत्रित करने के लिए प्रेस एक्ट, 1910, भारतीय दंड संहिता की धाराएं (विशेष रूप से राजद्रोह से संबंधित धाराएं) तथा सुरक्षा जमानत जैसी नीतियों का प्रयोग किया। 'आज' समाचार पत्र पर भी इन्हीं कानूनों के अंतर्गत कार्रवाई की गई। सरकार ने पत्र के लेखों को "भड़काऊ", "राजद्रोही" और "सरकार विरोधी" बताकर उस पर भारी जमानत राशि और आर्थिक दंड लगाए। अर्जुन:-अर्जुन "इस दैनिक पत्र का प्रकाशन 23 अप्रैल 1923 ई. को दिल्ली से प्रारम्भ हुआ था। स्वामी श्रद्धानन्द, इन्द्र विद्यावाचस्पति पत्र के सम्पादक थे। सन् 1934 ई. में आंग्ल शासकों ने 6, 000 रुपए की जमानत मांगी। ऐसी स्थिति में पत्र का प्रकाशन बन्द कर दिया गया तथा वीर अर्जुन नाम से दूसरा पत्र निकला गया।"^{२०} 1920 के बाद अंग्रेजी सरकार ने प्रेस एक्ट, 1910 और भारतीय दंड संहिता की विभिन्न धाराओं का सहारा लेकर भारतीय प्रेस को नियंत्रित करने की नीति अपनाई। 'अर्जुन' पर भी इन्हीं कानूनों के अंतर्गत कार्रवाई की गई। सरकार ने पत्र पर भारी जमानत और आर्थिक जुर्माना लगाकर उसे आर्थिक रूप से कमजोर करने का प्रयास किया, ताकि उसका प्रकाशन बाधित हो सके। जुर्माने का वास्तविक उद्देश्य दंड से अधिक डर और नियंत्रण स्थापित करना था। 'अर्जुन' पर लगाया गया जुर्माना ब्रिटिश सरकार की उस दमनकारी प्रेस नीति का उदाहरण है, जिसका उद्देश्य भारतीय पत्रकारिता की स्वतंत्र आवाज़ को कुचलना था।

नवज्योति:- "अजमेर से 1936 ई. में नवज्योति साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ। जिसके सम्पादक रामनारायण चौधरी थे। पत्र की रीति-नीति पर सम्पादक ने लिखा कि- 'मेरे अखबार को यह फख्र हासिल

१८. डॉ. अर्जुन तिवारी, हिन्दी पत्रकारिता का बृहद् इतिहास, पृ०- 246

१९. डॉ. मंगला अनुजा, भारतीय पत्रकारिता नींव के पत्थर, पृष्ठ-289

२०. डॉ. अर्जुन तिवारी, हिन्दी पत्रकारिता का बृहद् इतिहास, पृ०- 264

रहा कि उन्होंने निडर होकर निरंकुश हुकूमत की बेजाबूतगियों और कुचक्रों पर प्रकाश डाला, टीका की और जनता की आवाज व राष्ट्र की भावना और पीड़ितों की पुकार को प्रतिध्वनित किया। इसका पुरस्कार भी ब्रिटिश सत्ता ने अच्छा दिया। उनकी तरफ से अनेक बार चेतावनियां मिली, तलाशियां ली गयी और 7 साल के अर्से में प्रेस और पत्र कई बार जमानतें तलब की गई।”^{२१}

1936 ई. में अजमेर से प्रकाशित साप्ताहिक पत्र ‘नवज्योति’ पर अपनाई गई, दमनकारी नीति भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में औपनिवेशिक दमन का महत्वपूर्ण उदाहरण है। सरकार ने ‘नवज्योति’ से सुरक्षा जमानत की मांग, अंकों की जब्ती, चेतावनी नोटिस और आर्थिक दबाव जैसी नीतियां अपनाई। इन कार्रवाइयों का वास्तविक उद्देश्य पत्र को आर्थिक और मानसिक रूप से कमजोर करना था, ताकि उसका प्रकाशन बाधित हो सके और राष्ट्रवादी स्वर दब जाए। कई बार पत्र के संपादकीय लेखों पर आपत्ति जताते हुए उन्हें प्रकाशित करने से पूर्व रोकने के प्रयास भी किए गए। निष्कर्ष:-प्रस्तुत शोध से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में पत्रकारिता केवल सूचना का माध्यम नहीं, बल्कि वैचारिक संघर्ष का सशक्त हथियार रही। हिकी गजट से लेकर नवज्योति तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने औपनिवेशिक शासन की अन्यायपूर्ण नीतियों, आर्थिक शोषण और राजनीतिक दमन को निर्भीकता से उजागर किया। अंग्रेजी सरकार ने प्रेस की इस प्रभावशीलता को चुनौती मानते हुए जुमनि, जब्ती, संपादकों की गिरफ्तारी और दमनकारी कानूनों के माध्यम से उसे नियंत्रित करने का प्रयास किया। समाचार सुधावर्षण जैसे प्रारंभिक दैनिक से लेकर पयामे आजादी, हिंदी प्रदीप, आज, अर्जुन और बनारस अखबार तक की संघर्षगाथा यह सिद्ध करती है कि दमन के बावजूद भारतीय पत्रकारिता ने जनचेतना को जीवित रखा और राष्ट्रवादी विचारों का निरंतर प्रसार किया। निष्कर्षतः, औपनिवेशिक दमन भारतीय पत्रकारिता को कमजोर नहीं कर सका, बल्कि उसने उसे अधिक प्रतिबद्ध, साहसी और स्वतंत्रता-संग्राम का अनिवार्य अंग बना दिया।

---O---

औपनिषदिक ज्ञान परम्परा में पञ्चकोश : राष्ट्रीय पाठ्यचर्या-2023 के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. धनञ्जय मणि त्रिपाठी

संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया (नई दिल्ली)

भारतीय ज्ञान परम्परा में मोक्ष तक पहुँचने के अनेक मार्ग बताए गए हैं जिनमें अध्यात्म मोक्ष प्राप्ति का व्यावहारिक मार्ग है। केवल आध्यात्मिक योगी ही निरंतर साधना से अमरत्व प्राप्त कर सकता है। इस संबंध में पञ्चकोश सिद्धान्त का अनुभव व्यक्ति के शरीर को घेरने वाले विभिन्न आवरणों को समझने में सहायता करता है। ये आवरण शरीर की मूल शारीरिक रचना बनाते हैं। इन आवरणों की विकृति को ठीक करने के विभिन्न साधन हैं। प्रस्तुत लेख में पञ्चकोश की समीक्षा, उनके कार्य और उनकी प्रयोजनीयता का उल्लेख किया गया है। मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य अन्नमय कोश से दूर जाना और अधिकांश समय विज्ञानमय कोश में रहना तथा उत्तरोत्तर आनन्दमय कोश (आनन्दावस्था) में जाना है। मनुष्य के पूर्ण आध्यात्मिक विकास और ईश्वर के साथ अन्तिम मिलन के लिए सभी पाँच कोशों का विकास आवश्यक है।

उपनिषद् भारतीय विद्या तथा दर्शनशास्त्र के पोषक ग्रन्थ हैं और इनकी प्राचीनता और व्यापकता के कारण दार्शनिक जगत् में इनको जो गौरव प्राप्त है वह विश्व के किसी और साहित्य को नहीं है। इनके प्रकाश में सनातन धर्म का सिञ्चन होता है। उपनिषद् वाङ्मय मात्र आध्यात्मिकता को ही नहीं अपितु मानवमात्र के नैतिक जीवन पर भी प्रकाश डालती हैं। इनमें संसार चक्र का चित्रण एवं उसके वर्णन के क्रम में सृष्टि प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। उपनिषद् ब्रह्म-विद्या का वाचक और मोक्ष-विज्ञान की कारक ग्रन्थ-राशि है जो संसार के बंधन या अज्ञान को दूर करती है। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक को ग्रंथविशेष उपनिषद् कहा जाता है या वैदिक साहित्य के अंतिम भाग को उपनिषद् कहा जाता है। इसीलिए इसे वेदान्त भी कहा जाता है। दार्शनिक दृष्टि से यह साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है। इसी ब्रह्मविद्या के कारण उपनिषदों की संसार में प्रतिष्ठा है। प्रस्थानत्रयी में उपनिषदों का प्रथम स्थान है। ब्रह्म का स्वरूप, आत्मा का परिचय, परलोक की गुप्त पूजा का अनुष्ठान, उपासना, अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति, सृष्टि का रहस्य, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति-ये सभी विषय उपनिषदों में मिलते हैं। पराविद्या और अपरा विद्या के साथ-साथ कर्मवाद, ज्ञान की गरिमा की भावना, एकता की भावना, बंधुत्व की भावना और अमृत के रूप में प्रतिनिधित्व की भावना को भी उपनिषदों में मृत्यु के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

औपनिषदिक विचारधारा के अन्तर्गत हमें साङ्ख्य एवं वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों की आरम्भिक अवस्था दृष्टिगत होती है वस्तुतः इस अवस्था में वेदान्त एवं साङ्ख्य में विशेष अन्तर प्रतिभासित नहीं होता है और माया तथा प्रकृति आदि का प्रयोग पर्याय रूप में ही हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रकृति के साथ

ईश्वर का अस्तित्व भी अनिवार्यतः माना गया है जिससे सेश्वर साङ्ख्य अर्थात् योग दर्शन के विकास के भी सङ्केत प्राप्त होते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रकृति को माया तथा परब्रह्म परमात्मा महेश्वर को मायापति के सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है।^१ मोक्ष की प्राप्ति के समान्यतः तीन मार्ग माने जाते हैं^२-ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। इन तीनों मार्गों के आरम्भिक बीज उपनिषदों में उपलब्ध हैं। यहाँ ज्ञानमार्ग से आशय निर्विकार सर्वव्यापक, निराकार एवं कूटस्थ आत्मा के ज्ञान से है तो वहीं कर्म मार्ग से तात्पर्य विभिन्न सांसारिक कर्मों में अनासक्ति के भाव द्वारा सांसारिक मोहादि से विरक्त होने से है। भक्ति के अन्तर्गत जीव अपने परमात्मस्वरूप भगवान् के समक्ष स्वयं को पूर्णतः समर्पित कर देता है तत्पश्चात् भगवान् ही उसके योगक्षेम का वहन करते हुये इस संसार से मुक्ति प्रदान करते हैं। विभिन्न विद्वानों ने ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के मार्गों को परस्पर पृथक् माना है किन्तु यदि हम पारमार्थिक रूप से दृष्टिपात करें तो विदित होता है कि ज्ञान, कर्म एवं भक्ति पृथक् न होकर परस्पर सम्बद्ध हैं।^३ ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् कर्मफल में अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है एवं विश्वात्मा के प्रति समर्पण का भाव भी उत्पन्न हो जाता है, उसके अन्तस् में विद्यमान व्यष्टिगत अहं समष्टिगत चैतन्य में विलीन होकर उसे सर्वान्तर आत्मा की अनुभूति कराता है। त्रिविध दुःख के परिशमन के लिए और मोक्ष प्राप्ति के लिए भारतीय ज्ञान परम्परा में अनेक मार्ग बताए गए हैं, जिनमें अध्यात्म मोक्ष प्राप्ति का व्यावहारिक मार्ग है। केवल आध्यात्मिक योगी ही निरंतर साधना से अमरत्व प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में पञ्चकोश सिद्धान्त का अनुभव व्यक्ति के शरीर को घेरने वाले विभिन्न आवरणों को समझने में सहायता करता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय ज्ञान परम्परा, भारतीय सांस्कृतिक जागरूकता, कला एवं भाषा, बहुभाषिकता को प्रोत्साहन प्रदान करने का लक्ष्य लेकर चलाती है। यह एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा नीति है जो भारतीयों में भारतीय होने का गौरव तथा बच्चों में अपने सांस्कृतिक इतिहास, कला, भाषा एवं परम्परा, भावना एवं अपनी संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव पैदा करने के उद्देश्य से तैयार की गयी है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 देश की शिक्षा व्यवस्था एवं प्रणाली को एक नया आधार एवं दिशा प्रदान करने वाली शिक्षा नीति कहा जा सकता है। भारत में शिक्षा के सुधार पर अनगिनत रिपोर्ट आई; जिन्होंने भारतीय शिक्षा प्रणाली को समय की मांग व विश्व की बराबरी में लाने के लिए पथ प्रदर्शक का काम किया। शिक्षा नीतियाँ, शिक्षा आयोग व शिक्षा रिपोर्ट ही पर्याप्त नहीं होती, परन्तु प्रत्येक शिक्षा नीति के सही कार्यान्वयन के लिए एक सही 'पाठ्यचर्या फ्रेमवर्क' की आवश्यकता को अनदेखा नहीं किया जा सकता। भारत के चार राष्ट्रीय पाठ्यचर्या फ्रेमवर्क आ चुके हैं।

-
१. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं च महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/10
 २. वेद ब्रह्मात्म-विषय त्रि-काण्ड-विषय इमे । परोक्ष-वदा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥ भागवत पुराण 11.21.35
 ३. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते । एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ गीता- 5.5

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, जिसने कोठारी आयोग की संस्तुति (10+2+3) की नीति को, जिसे 1986 की शिक्षा नीति में अपनाया गया था; उसे प्रतिस्थापित किया।

शरीर, प्राण, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियादि को ही कोश के रूप में स्वीकार किया गया है।^४ कोश का अर्थ है- आवरण या आच्छादक^५ जो आत्मतत्त्व के स्वरूप को आच्छादित कर लेता है।^६ जिससे आत्मा की प्रतीति नहीं हो पाती। जिस तरह झिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी तरह आत्मा भी पाँच कोशों से आवृत है।^७ शंकराचार्य ने कोशों को स्वीकार किया है किन्तु उनकी काल्पनिक सत्ता मात्र मानी है और इसे अज्ञानमूलक बताया है।^८ पहला कोश अन्नमय है जो जीवात्मा तक जाने का मुख्य द्वार है। वह अन्न से निर्मित है। जिसके कारण देह शरीर आदि नाम अभिहित होता है इसके दो भाग हैं उनमें से स्थूल का नाम अन्नमयकोश है^९ तथा दूसरे भाग का नाम प्राणमय कोश है। यह पार्थिव शरीर अन्न से उत्पन्न होता है, अन्न से ही जिवित रहता है तथा अन्न के अभाव में नष्ट हो जाता है। तथा यह अन्नमय शरीर कदापि आत्मा नहीं हो सकता। इसका आधार अन्न ही है।^{१०} इस स्थूल शरीर में सात धातुएं- रस, रक्त, मांस, भेद, मज्जा, अस्थि व वीर्य या रज है। अर्थात् पुरुष की सातवीं धातु वीर्य और स्त्री की सातवीं धातु रज है। वीर्य और रज के संयोग से ही शरीर की उत्पत्ति होती है।^{११} तैत्तिरीयोपनिषद् में इस कोश का वर्णन करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम मनुष्य शरीर की उत्पत्ति को बताकर उसके अंगों की पंक्षी के अंगों के रूप में कल्पना की गयी है। इसमें बताया गया है कि सर्वप्रथम आत्मा से आकाश तत्त्व उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी से नाना प्रकार की औषधियाँ अनाज के पौधे हुए और औषधियों से मनुष्यों का आहार अन्न उत्पन्न हुआ। उस अन्न से यह स्थूल मनुष्य शरीर उत्पन्न हुआ। स्थूल शरीर को ही अन्नमय कोश कहते हैं। इस पृथ्वी पर रहने वाले जितने प्राणी हैं, वे सब अन्न से ही उत्पन्न हुए हैं। अन्न के परिणामरूप रज और वीर्य से ही उनके शरीर बने हैं। उत्पन्न होने के बाद अन्न में ही उनका पालन-पोषण होता है। अतः अन्न से ही वे जीते हैं। फिर

-
४. अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेते पञ्च ते। प.द.1.33
 ५. अमरकोश 2.8.17.1.3
 ६. कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत्। प. द.1.33
 ७. यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् । श्रीमद्भगवद्गीता-3.38
 ८. कोशैरन्यमयाद्यैः पञ्चभिरात्मा न संवृत्तो भाति । निजशक्तिसमुत्पन्नैः शैवालपटलैरिवाम्बु वापीस्थम् ॥ विवेक चूड़ामणि 151
 ९. स्यात्पञ्चकृतभूतेभ्यो देह स्थूलोऽन्नसंज्ञक ।
 १०. अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते।अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः । तैत्तिरीय उपनिषद् 2/2
 ११. देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोशश्चात्रेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः । त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशिर्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यं शुद्धः । विवेक चूड़ामणि

अन्त में अन्न उत्पन्न करने वाली पृथ्वी में ही विलीन हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त प्राणियों के जन्म, जीवन और मरण स्थूल शरीर के सम्बन्ध से ही होते हैं और स्थूलशरीर अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीते हैं तथा अन्न के उद्गम स्थान पृथ्वी में ही मरने के बाद विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार यह अन्न समस्त प्राणियों की उत्पत्ति आदि का कारण है। इसी पर सब कुछ निर्भर करता है इसलिये यही सबसे श्रेष्ठ है और इसलिये यह ‘सर्वोषधरूप’ कहलाता है।” अन्न से निर्मित यह स्थूल शरीर ही अन्नमयकोश है क्योंकि इसमें अन्न की प्राचूर्यता है।

प्राणमयकोश स्थूलशरीर के अन्दर है। इस कोश के सन्दर्भ में शंकराचार्य का मानना है कि-

कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्जितोऽयं प्राणोभवेत् प्राणमयस्तु कोशः ।

ये नात्मवानन्नमयोऽन्नपूर्णः प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु ॥^{१२}

जो वायु पैर से मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण देह में व्याप्त होती है। बल प्रदान करती हुई व्यानरूप से सामर्थ्य प्रदान करती हुई चक्षु आदि कर्मेन्द्रियों की प्रेरक व प्रवर्तक है वह वायु प्राणमय कही जाती है। यह कोश क्रियाशक्ति प्रधान तथा कर्मरूप है। उपनिषद् में प्राण को ‘अङ्गिरस’ कहा गया है। क्योंकि यह कार्य-कारण रूप अङ्गों का सार अर्थात् आत्मा है। इसके अभाव में शरीर सूख जाता है।

अन्न के रस से निर्मित स्थूल शरीर से भिन्न उस स्थूल शरीर के अन्दर एक और शरीर है उसका नाम ‘प्राणमय’ है। अन्नमय स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण प्राणमय शरीर स्थूलशरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग में व्याप्त है यह प्राणमय शरीर भी पुरुष के आकार का है।^{१३} उसकी पंक्षी के रूप में कल्पना इस प्रकार है- ‘प्राण’ ही मानो उसका सिर है क्योंकि शरीर के अङ्गों में जैसे मस्तष्क श्रेष्ठ है उसी तरह पाँचों प्राणों में मुख्य ‘प्राण’ ही सर्वश्रेष्ठ है। ‘व्यान’ दाहिना पंख है। ‘अपान’ बायों पंख है। ‘समानवायु’ आत्मा है। क्योंकि समस्त शरीर में समानभाव से रस पहुँचाकर समस्त प्राणमय पुरुष को पुष्ट करता है। इसका स्थान शरीर का मध्यभाग है तथा इसी का वाह्य आकाश से सम्बन्ध है। पृथ्वी पृष्ठ एवं आधार है अर्थात् अपानवायु को रोककर रखने वाली पृथ्वी की अधिभौतिक शक्ति ही प्राणमय पुरुष का आधार है। जितने भी शरीरधारी प्राणी हैं, वे सब प्राण के सहारे जी रहे हैं। प्राण के बिना किसी का भी शरीर नहीं रह सकता, क्योंकि प्राण ही सभी प्राणियों की आयु-जीवन है इसीलिये यह प्राण ‘सर्वायुष’ कहलाता है।^{१४} “मनोमय कोश मन और पञ्चज्ञानेन्द्रियों का संयोग है। अन्तःकरण में सत्त्ववृत्ति की प्रधानता होने से वृत्तिसत्त्व का कार्य होता है। फिर भी मन की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्ति होने से यह सत्त्व-उपहित रजोगुण का विकार है। इसलिए यह कोश इच्छारूप है। बुद्धि की अपेक्षा मन जड़ होने से यह कोश जड़ रूप है। इच्छा शक्ति वाला तथा करण रूप है। यह कोश शरीर में अहंभाव अर्थात् ‘मैं हूँ’, ‘यह मेरा है’

१२. विवेक चूड़ामणि

१३. तस्माद्वा एतस्मादन्नरस्मयादन्योन्तर आत्मा प्राणमयः । तैत्तिरीयोपनिषत् 2/2

१४. तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । तैत्तिरीय उपनिषद् 2/3

इत्यादि भाव से ममता करता है और काम क्रोधादि की अवस्थाओं में भ्रान्त हो जाता है। अपने मन को मुमुक्षु द्वारा शोधन करना चाहिए। उसके शुद्ध हो जानेपर ही मुक्ति करामलकावत् हो जाती है।^{१५}

विज्ञानमय कोश के विषय में विवेक चूडामणि में इस प्रकार कहा गया है कि-

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः ।

विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम् ॥^{१६}

विज्ञानमय कोश पञ्चज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि से युक्त है और कर्तापन का स्वभाव वाला है। जो पुरुष के जन्म-मरण रूप संसार का कारण है। चित्त और इन्द्रिय आदि का गमन करने वाली चेतन की प्रतिबिम्ब शक्ति ही 'विज्ञान' नामक प्रकृति का विकार है। यह कोश 'मैं ज्ञानी एवं क्रियावान हूँ' ऐसा देह इन्द्रिय आदि में निरन्तर अभिमान करता है। यह अहं स्वभाव वाला विज्ञानमय कोश ही जीव और संसार के समस्त व्यवहारों का निर्वाह करने वाला है। यह अपनी पूर्व वासना से पुण्य और पाप से युक्त अनेक प्रकार के कर्म करता है और उनके फल को भोगता है तथा विभिन्न योनियों में विचरण करता हुआ कभी नीचे आता है तो कभी ऊपर जाता है जाग्रत् स्वप्न आदि अवस्थाएँ सुख-दुःख आदि भोग-देह आदि से आत्माभिमान और ममता आदि सर्वदा इस विज्ञानमय कोश के ही होते हैं। इस कोश के विषय में विवेक चूडामणि में कहा गया है कि 'विज्ञानमयकोशोऽयमतिप्रकाशः'।

आनन्दस्वरूप आत्मा के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित तथा तमोगुण से युक्त वृत्ति आनन्दमय कोश है। यह प्रिय-मोद और प्रमोद आदि गुणों से युक्त है और अपने अभिष्ट प्रदार्थ के प्राप्त होने पर प्रकट होता है। पुण्यकर्मों परिपाक होने पर उसके फल का अनुभव करते समय पुरुषों को उस आनन्दमयकोश का स्वयं ही भान होता है। जिससे सम्पूर्ण शरीरधारी जीव बिना प्रयत्न के ही आनन्दित होते रहते हैं। आनन्दमयकोश की तीव्र प्रतीति सुषुप्तावस्था में होती है तथा जाग्रत् और स्वप्नावस्था में भी अभिष्ट वस्तु को दर्शन से उसका भान होता रहता है। आनन्दमयकोश को 'हिरण्यगर्भकोश', 'हृदयगुहा', 'हृदयपुण्डरीक', 'अनाहत् पद्मम्', 'कारण शरीर' आदि नामों से जाना जाता है। हृदय के मध्य ये श्वेत अंगूर के समान अण्डाकृति एक रिक्त पिण्ड है। जिसे पुराणों में 'ज्योतिलिङ्ग' के नाम जाना जाता है। इन्हीं पञ्चकोशों से जीव शरीर की संरचना हुई है- स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर के रूप में विभक्त किया गया है।

औपनिषद् ज्ञान परम्परा के अनुसार ब्रह्म के ईक्षण मात्र से सम्पूर्ण सृष्टि तथा अनेक प्रकार के जीवों की उत्पत्ति हुई है। उत्पत्ति के तदोपरान्त मानव शरीर का विकास पञ्चकोश में देखा जा सकता है, क्योंकि मनुष्य अथवा किसी भी जीव को शारीरिक विकास अन्न पर निर्भर करता है अन्न से ही पुष्ट होता है। मनुष्य शरीर को तीन भागों में विभक्त किया गया है। स्थूल शरीर (अन्नमयकोश), सूक्ष्मशरीर (प्राण, विज्ञान, मनोमयकोश) तथा कारणशरीर (आनन्दमयकोश) कारण शरीर प्रकृति का नाम है। सत्त्व, रज

१५. तन्मनः शोधनं कार्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा । विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिः करफलायते ।। विवेक चूडामणि

१६. विवेक चूडामणि 186

तथा तमोगुण इन तीनों का समुदाय प्रकृति है। इन शरीरों से जीव विभिन्न प्रकार के विषयों का भोग करता है। यह स्थूल शरीर भोग का आयतन है। तीनों शरीर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व नहीं सकता है। चेतना के दो वर्ग होते हैं। सार्वभौमिक और व्यक्तिगत। परम् पुरुष भगवान् ब्रह्माण्ड के समस्त वस्तुओं के प्रति चेतन होते हैं। जबकि जीव केवल स्वयं के विषय में चेतन होता है। यह सार्वभौमिक चेतना पञ्चकोश में ईश्वर, सूत्रात्मा तथा वैश्वानर और व्यक्तिगत चेतना, प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व के नाम से अभिहित किया गया है। यह चेतना का स्तरीकरण है इससे यह प्रतीत होता है कि चेतना निम्न से उच्च के तरह विकसित होता है तथा मानव विकास पञ्चकोश पर निर्भर करता है। पञ्चकोश को शङ्कराचार्य ने मिथ्या कहा है। आत्मा ही पारमार्थिक सत्य है आत्मा के संयोग से पञ्चकोश भी चेतनवत प्रतीत होते हैं। मानव विकास में आत्मा और कोषों का संयोग आवश्यक है।

“पंचकोषीय विकास” का तात्पर्य पाँच आयामों या क्षेत्रों में बच्चे के समग्र विकास से है: शारीरिक, महत्वपूर्ण भावनात्मक, संज्ञानात्मक तथा आध्यात्मिक। इस अवधारणा पर अक्सर शैक्षिक और बाल विकास रूपरेखाओं में जोर दिया जाता है, जिसका उद्देश्य बच्चों को व्यापक तरीके से पोषित करना है, यह सुनिश्चित करना है कि वे अच्छी तरह से विकसित व्यक्ति बनें। यह मानता है कि विकास केवल शैक्षणिक उपलब्धियों के बारे में नहीं है, अपितु इसमें बच्चे के व्यक्तित्व और कल्याण के विभिन्न पहलू भी शामिल हैं। पंचकोष मॉडल मानव की परतों का वर्णन करता है, जिनमें से प्रत्येक अस्तित्व के एक अलग पहलू का प्रतिनिधित्व करता है, जो स्थूल भौतिक से लेकर सूक्ष्म आध्यात्मिक तक होता है। इस प्रकार से दुर्विज्ञेय आत्मा का उपदेश देने के लिए शास्त्र अरुन्धती न्याय का अनुसरण करता है। इन परतों को अक्सर आवरण या आवरण के रूप में दर्शाया जाता है, जिसमें सबसे भीतरी आवरण व्यक्ति का मूल सार होता है।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का वर्तमान प्रारूप^{१७} पंचकोष या पाँच परतों के साथ, बच्चे को एक सम्पूर्ण मानव मानता है। ये परतें हैं अन्नमय कोष (शारीरिक परत), प्राणमय कोष (जीवनशक्ति ऊर्जा परत), मनोमय (मन की परत), विज्ञानमय कोष (बौद्धिक परत) और आनंदमय कोष (आन्तरिक स्व)। हर परत के कुछ खास गुण हैं। इन पाँच परतों को पोषित करने पर बच्चे का सर्वांगीण विकास होता है। हर कोष के विकास के लिए कुछ विशेष प्रकार के प्रशिक्षण पर बल दिया गया है। ये तरीके इस बात को ध्यान में रखते हुए तैयार किए गए हैं कि ये सभी कोष एक-दूसरे से आपस में जुड़े हुए हैं इसीलिए ऐसी गतिविधियाँ जिसमें किसी एक कोष का भी विकास होता है वह दूसरे कोष के विकास में योगदान देगी ही।

---O---

मातृभाषा, बहुभाषिकता और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 : भारतीय शिक्षा प्रणाली में भाषा नीति का सैद्धांतिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. मनोज प्रसाद नौटियाल

असिस्टेंट प्रोफेसर, हे. न. ब. ग. वि. वि. एस.आर.टी. कैंपस, टिहरी गढ़वाल

चन्द्रेश

असिस्टेंट प्रोफेसर, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोपेश्वर, चमोली (उत्तराखंड)

प्रस्तावना- भाषा मानव समाज की सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक संस्थाओं में से एक है। यह केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं बल्कि ज्ञान, विचार और संस्कृति के निर्माण तथा संरक्षण का प्रमुख साधन भी है। शिक्षा प्रणाली में भाषा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है क्योंकि शिक्षा की संपूर्ण प्रक्रिया भाषा के माध्यम से ही संचालित होती है। भारत एक बहुभाषी समाज है जहाँ भाषाई विविधता सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक पहचान का महत्वपूर्ण तत्व है। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाओं को मान्यता दी गई है, जबकि वास्तविकता में भारत में सैकड़ों भाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित हैं। भाषाई विविधता के इस संदर्भ में शिक्षा में भाषा का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। शिक्षा में भाषा का चयन केवल शिक्षण-माध्यम का प्रश्न नहीं बल्कि सामाजिक समानता, सांस्कृतिक पहचान और ज्ञान की पहुँच से भी जुड़ा हुआ है (Spolsky, 2004)। शोध बताते हैं कि प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में होने से छात्रों की सीखने की क्षमता अधिक विकसित होती है और वे अवधारणाओं को बेहतर ढंग से समझ पाते हैं (Cummins, 2000)। मातृभाषा छात्रों की संज्ञानात्मक संरचना और सामाजिक अनुभवों से जुड़ी होती है, इसलिए मातृभाषा में शिक्षा छात्रों के मानसिक विकास को सुदृढ़ करती है। मातृभाषा में शिक्षा छात्रों की सीखने की प्रक्रिया को सरल बनाती है और उनकी रचनात्मक क्षमता को विकसित करती है (Khan, 2024)। इसी कारण UNESCO ने भी प्रारंभिक शिक्षा को मातृभाषा में प्रदान करने की अनुशंसा की है (UNESCO, 2016)। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने शिक्षा प्रणाली में भाषा के महत्व को पुनः स्थापित करते हुए प्रारंभिक स्तर पर मातृभाषा या स्थानीय भाषा में शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया है (Mahato & Raj, 2026)। नीति का उद्देश्य छात्रों की सीखने की क्षमता को बढ़ाना और भारतीय भाषाओं के संरक्षण को सुनिश्चित करना है। हालाँकि भारत में अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा के बढ़ते प्रभाव ने भारतीय भाषाओं की भूमिका को कई बार सीमित कर दिया है। इससे शिक्षा प्रणाली में असमानता उत्पन्न होती है क्योंकि ग्रामीण और वंचित वर्गों के छात्रों के लिए अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा प्राप्त करना अपेक्षाकृत कठिन होता है (Prasad, 2025)। इस संदर्भ में मातृभाषा आधारित शिक्षा और बहुभाषिक शिक्षा मॉडल भारत की शिक्षा प्रणाली को अधिक समावेशी और प्रभावी बनाने की क्षमता रखते हैं।

मातृभाषा आधारित शिक्षा का महत्व: मातृभाषा वह भाषा होती है जिसे व्यक्ति अपने प्रारंभिक जीवन में परिवार और समुदाय से सीखता है। यह भाषा व्यक्ति की सोच, अनुभव और सामाजिक पहचान से गहराई से जुड़ी होती है। शोध बताते हैं कि मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र विषयवस्तु को अधिक आसानी से समझते हैं और उनकी सीखने की क्षमता अधिक विकसित होती है (UNESCO, 2016)। मातृभाषा में शिक्षा छात्रों की संज्ञानात्मक क्षमता और रचनात्मकता को बढ़ाती है। इसके अतिरिक्त यह छात्रों के आत्मविश्वास और सांस्कृतिक पहचान को भी मजबूत बनाती है (Khan, 2024)।

बहुभाषिक शिक्षा: बहुभाषिक शिक्षा वह व्यवस्था है जिसमें छात्रों को एक से अधिक भाषाओं में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता है। Cummins (2000) के अनुसार बहुभाषिक शिक्षा छात्रों की संज्ञानात्मक क्षमता को बढ़ाती है और उनकी भाषाई दक्षता को मजबूत करती है। Garcia (2009) ने बहुभाषिक शिक्षा को वैश्विक शिक्षा प्रणाली का महत्वपूर्ण तत्व बताया है क्योंकि यह छात्रों को विभिन्न संस्कृतियों को समझने और बहुसांस्कृतिक समाज में प्रभावी ढंग से कार्य करने में सहायता करती है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 और भाषा: राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने भारतीय शिक्षा प्रणाली में भाषा के महत्व को पुनः स्थापित किया है। नीति के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा या स्थानीय भाषा में प्रदान की जानी चाहिए (Singh, 2023)। इसके अतिरिक्त नीति बहुभाषिक शिक्षा को भी प्रोत्साहित करती है जिससे छात्रों को विभिन्न भाषाओं को सीखने का अवसर मिल सके (Shukla & Rakesh, 2025)।

शोध अंतराल- भाषा और शिक्षा के संबंध में विश्व स्तर पर अनेक अध्ययन उपलब्ध हैं। मातृभाषा आधारित शिक्षा, बहुभाषिक शिक्षा और भाषा नीति पर व्यापक शोध किया गया है। इसके बावजूद भारतीय संदर्भ में कई महत्वपूर्ण प्रश्न अभी भी पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं हैं। साहित्य की समीक्षा से निम्नलिखित प्रमुख शोध अंतराल सामने आते हैं।

पहला महत्वपूर्ण अंतराल यह है कि अधिकांश शोध मातृभाषा आधारित शिक्षा के सैद्धांतिक महत्व को तो स्वीकार करते हैं, लेकिन इसके वास्तविक कार्यान्वयन और व्यावहारिक प्रभावों का विश्लेषण सीमित है। विशेष रूप से भारत जैसे बहुभाषी देश में जहाँ शिक्षा प्रणाली में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता है, वहाँ मातृभाषा आधारित शिक्षा के व्यावहारिक मॉडल पर पर्याप्त अनुभवजन्य अध्ययन उपलब्ध नहीं हैं।

दूसरा अंतराल राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में भाषा नीति के प्रभाव से संबंधित है। NEP-2020 ने शिक्षा में भारतीय भाषाओं और मातृभाषा को बढ़ावा देने की स्पष्ट अनुशंसा की है, किंतु इस नीति के क्रियान्वयन और उसके परिणामों पर अभी तक व्यापक शोध नहीं हुआ है। विशेष रूप से यह समझना आवश्यक है कि नीति के लागू होने के बाद शिक्षा प्रणाली में भाषा के उपयोग में

क्या परिवर्तन आए हैं और इन परिवर्तनों का छात्रों के सीखने के परिणामों पर क्या प्रभाव पड़ा है (Government of India, 2020)।

तीसरा महत्वपूर्ण अंतराल बहुभाषिक शिक्षा और डिजिटल शिक्षा के संबंध से जुड़ा हुआ है। वर्तमान समय में शिक्षा तेजी से डिजिटल माध्यमों की ओर अग्रसर हो रही है। ऑनलाइन शिक्षण, डिजिटल पाठ्यसामग्री और ई-लर्निंग प्लेटफॉर्म का उपयोग बढ़ रहा है। इस संदर्भ में यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्या डिजिटल शिक्षा में भारतीय भाषाओं और बहुभाषिकता को पर्याप्त महत्व दिया जा रहा है। उपलब्ध साहित्य इस विषय पर सीमित जानकारी प्रदान करता है।

चौथा अंतराल सामाजिक असमानता और भाषा नीति के संबंध से संबंधित है। कई शोध बताते हैं कि अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक अवसरों से जुड़ी हुई है (Bourdieu, 1986)। इसके कारण भारतीय समाज में अंग्रेजी को अक्सर उच्च सामाजिक पूंजी का प्रतीक माना जाता है। इस स्थिति में यह समझना आवश्यक है कि मातृभाषा आधारित शिक्षा सामाजिक समानता और शैक्षिक अवसरों को किस प्रकार प्रभावित करती है।

पाँचवाँ महत्वपूर्ण अंतराल ग्रामीण और शहरी शिक्षा प्रणाली में भाषा के उपयोग के तुलनात्मक अध्ययन से संबंधित है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में कई छात्र स्थानीय भाषाओं और बोलियों का उपयोग करते हैं, जबकि शहरी क्षेत्रों में अंग्रेजी और हिंदी का प्रभाव अधिक है। इस कारण भाषा नीति का प्रभाव विभिन्न सामाजिक और भौगोलिक संदर्भों में भिन्न हो सकता है। इस विषय पर विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है।

इन सभी अंतरालों को ध्यान में रखते हुए यह अध्ययन मातृभाषा आधारित शिक्षा, बहुभाषिक शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के बीच संबंधों का सैद्धांतिक और समीक्षात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

सैद्धांतिक रूपरेखा- किसी भी शैक्षिक अध्ययन में सैद्धांतिक रूपरेखा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि यह अध्ययन के विश्लेषण के लिए एक वैचारिक आधार प्रदान करती है। वर्तमान अध्ययन तीन प्रमुख सैद्धांतिक दृष्टिकोणों पर आधारित है:

1. बहुभाषिकता सिद्धांत (Multilingualism Theory)
2. सांस्कृतिक पूंजी सिद्धांत (Cultural Capital Theory)
3. आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र (Critical Pedagogy)

इन सिद्धांतों के माध्यम से शिक्षा में भाषा की भूमिका, सामाजिक संरचना और ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया गया है।

1 बहुभाषिकता सिद्धांत- बहुभाषिकता सिद्धांत के अनुसार एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान व्यक्ति की संज्ञानात्मक क्षमता और बौद्धिक विकास को बढ़ाता है। यह सिद्धांत यह मानता है कि भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं बल्कि ज्ञान निर्माण और सोच की प्रक्रिया का भी महत्वपूर्ण आधार है।

Cummins (2000) ने अपनी प्रसिद्ध **Interdependence Hypothesis** में यह तर्क दिया कि विभिन्न भाषाओं के बीच संज्ञानात्मक कौशल का आदान-प्रदान होता है। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई छात्र अपनी मातृभाषा में मजबूत आधार विकसित करता है तो वह दूसरी भाषा को अधिक आसानी से सीख सकता है। बहुभाषिकता सिद्धांत यह भी बताता है कि बहुभाषिक छात्र अधिक लचीली सोच और समस्या-समाधान क्षमता विकसित करते हैं। यह क्षमता उन्हें विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक संदर्भों में बेहतर ढंग से कार्य करने में सहायता करती है (Garcia, 2009)। भारत जैसे बहुभाषी देश में यह सिद्धांत विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ अधिकांश छात्र एक से अधिक भाषाओं का उपयोग करते हैं। इस संदर्भ में बहुभाषिक शिक्षा छात्रों की भाषाई दक्षता और बौद्धिक विकास दोनों को सुदृढ़ कर सकती है।

2 सांस्कृतिक पूंजी सिद्धांत- सांस्कृतिक पूंजी सिद्धांत का विकास फ्रांसीसी समाजशास्त्री **पियरे बोरदियू (Pierre Bourdieu)** ने किया था। इस सिद्धांत के अनुसार समाज में कुछ सांस्कृतिक संसाधनों को अधिक महत्व दिया जाता है और ये संसाधन सामाजिक शक्ति और प्रतिष्ठा से जुड़े होते हैं। Bourdieu (1986) के अनुसार भाषा सामाजिक पूंजी का एक महत्वपूर्ण रूप है। शिक्षा प्रणाली में जिस भाषा को अधिक महत्व दिया जाता है, वह भाषा सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक अवसरों से जुड़ जाती है। भारत के संदर्भ में अंग्रेजी भाषा को अक्सर सामाजिक और आर्थिक अवसरों का प्रतीक माना जाता है। इसके कारण कई अभिभावक अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में भेजना पसंद करते हैं। यह स्थिति कई बार भारतीय भाषाओं के महत्व को कम कर देती है। सांस्कृतिक पूंजी सिद्धांत के माध्यम से यह समझा जा सकता है कि भाषा नीति केवल शैक्षिक निर्णय नहीं बल्कि सामाजिक शक्ति संरचना से भी जुड़ी होती है।

3 आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र- आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र का विकास ब्राज़ील के शिक्षाविद **पाउलो फ्रेरे (Paulo Freire)** ने किया था। इस सिद्धांत के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान प्रदान करना नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन और न्याय को बढ़ावा देना भी है। Freire (1970) के अनुसार शिक्षा प्रणाली को छात्रों की सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान को पहचानना चाहिए। यदि शिक्षा छात्रों की भाषा और संस्कृति को नजरअंदाज करती है तो वह शिक्षा प्रणाली असमानता को बढ़ावा दे सकती है। मातृभाषा आधारित शिक्षा आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है क्योंकि यह छात्रों को उनकी सांस्कृतिक पहचान के साथ जोड़ती है और उन्हें शिक्षा प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी का अवसर देती है।

संकल्पनात्मक रूपरेखा- इस अध्ययन की संकल्पनात्मक रूपरेखा भाषा नीति, मातृभाषा आधारित शिक्षा और बहुभाषिक शिक्षा के बीच संबंधों को स्पष्ट करती है।

यह रूपरेखा दर्शाती है कि यदि शिक्षा प्रणाली में मातृभाषा और बहुभाषिक शिक्षा को प्रभावी ढंग से लागू किया जाए तो यह संज्ञानात्मक विकास, समावेशी शिक्षा और शैक्षिक समानता को बढ़ावा दे सकती है।

6. शोध उद्देश्य-

1. शिक्षा में मातृभाषा आधारित शिक्षा के महत्व का विश्लेषण करना।
2. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की भाषा नीति का अध्ययन करना।
3. बहुभाषिक शिक्षा के प्रभावों का विश्लेषण करना।
4. भारतीय भाषाओं के माध्यम से समावेशी शिक्षा की संभावनाओं का अध्ययन करना।
5. भाषा नीति और सामाजिक समानता के बीच संबंध का विश्लेषण करना।

7. शोध प्रश्न-

1. मातृभाषा आधारित शिक्षा छात्रों के सीखने के परिणामों को किस प्रकार प्रभावित करती है?
2. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की भाषा नीति भारतीय शिक्षा प्रणाली को किस प्रकार प्रभावित कर सकती है?
3. बहुभाषिक शिक्षा छात्रों के संज्ञानात्मक विकास में किस प्रकार योगदान देती है?
4. भारतीय भाषाओं को शिक्षा प्रणाली में शामिल करने से समावेशी शिक्षा को किस प्रकार बढ़ावा मिल सकता है?

8. शोध पद्धति- यह अध्ययन गुणात्मक (qualitative) और समीक्षात्मक (review-based) शोध पद्धति पर आधारित है। इस शोध का उद्देश्य मातृभाषा आधारित शिक्षा, बहुभाषिक शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के बीच संबंधों का सैद्धांतिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। चूंकि यह अध्ययन शिक्षा नीति और भाषा शिक्षा के व्यापक आयामों को समझने का प्रयास करता है, इसलिए इसमें प्राथमिक डेटा के बजाय द्वितीयक स्रोतों का विश्लेषण किया गया है। समीक्षात्मक शोध पद्धति का उपयोग शिक्षा और समाजशास्त्र से संबंधित अध्ययनों में व्यापक रूप से किया जाता है क्योंकि यह विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध ज्ञान को समेकित कर किसी विषय की गहन समझ विकसित करने में सहायता करती है (Creswell, 2014)। इस अध्ययन में भी विभिन्न शोध पत्रों, नीति दस्तावेजों और अंतरराष्ट्रीय रिपोर्टों का विश्लेषण कर भाषा नीति और शिक्षा के संबंध को समझने का प्रयास किया गया है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य यह समझना है कि मातृभाषा आधारित शिक्षा और बहुभाषिक शिक्षा भारतीय शिक्षा प्रणाली को किस प्रकार अधिक समावेशी और प्रभावी बना सकती है। इसके लिए शिक्षा नीति, भाषा शिक्षा और सामाजिक समानता से संबंधित साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

डेटा स्रोत (Data Sources): इस अध्ययन में निम्नलिखित प्रकार के द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है:

शोध पत्र- मातृभाषा आधारित शिक्षा, बहुभाषिक शिक्षा और भाषा नीति से संबंधित विभिन्न शोध पत्रों का अध्ययन किया गया है। उदाहरण के लिए मातृभाषा आधारित शिक्षा के महत्व को स्पष्ट करने वाले अध्ययन यह बताते हैं कि प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में होने से छात्रों की सीखने की क्षमता अधिक विकसित होती है (Khan, 2024)।

नीति दस्तावेज- राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का विश्लेषण इस अध्ययन का एक महत्वपूर्ण भाग है। इस नीति में भाषा शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया है और प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में प्रदान करने की अनुशंसा की गई है (Government of India, 2020)।

अंतरराष्ट्रीय संगठनों की रिपोर्ट: UNESCO और अन्य अंतरराष्ट्रीय संगठनों की रिपोर्टों का अध्ययन भी किया गया है। इन रिपोर्टों में मातृभाषा आधारित शिक्षा को शिक्षा की गुणवत्ता और समावेशिता बढ़ाने का महत्वपूर्ण साधन बताया गया है (UNESCO, 2016)।

शैक्षिक संस्थानों की रिपोर्ट: NCERT तथा अन्य शैक्षिक संस्थानों द्वारा प्रकाशित रिपोर्टों का उपयोग भी इस अध्ययन में किया गया है। इन रिपोर्टों में भाषा शिक्षा और बहुभाषिकता से संबंधित विभिन्न मुद्दों पर विस्तृत चर्चा की गई है।

विश्लेषणात्मक रूपरेखा- इस अध्ययन में **थीमैटिक विश्लेषण (Thematic Analysis)** का उपयोग किया गया है। थीमैटिक विश्लेषण एक ऐसी पद्धति है जिसके माध्यम से विभिन्न स्रोतों से प्राप्त डेटा में मौजूद प्रमुख विषयों (themes) की पहचान की जाती है (Braun & Clarke, 2006)। इस अध्ययन में निम्नलिखित प्रमुख विषयों के आधार पर विश्लेषण किया गया है:

1. मातृभाषा आधारित शिक्षा का प्रभाव
2. बहुभाषिक शिक्षा और संज्ञानात्मक विकास
3. भाषा नीति और सामाजिक समानता
4. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की भाषा संबंधी सिफारिशें

इन विषयों के आधार पर विभिन्न शोध अध्ययनों के निष्कर्षों का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

अध्ययन का क्षेत्रीय संदर्भ- भारत की शिक्षा प्रणाली अत्यंत विविधतापूर्ण है। विभिन्न राज्यों में अलग-अलग भाषाएँ और शैक्षिक व्यवस्थाएँ मौजूद हैं। इस कारण भाषा नीति का प्रभाव भी विभिन्न सामाजिक और भौगोलिक संदर्भों में भिन्न हो सकता है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में कई छात्र स्थानीय भाषाओं और बोलियों का उपयोग करते हैं, जबकि शहरी क्षेत्रों में अंग्रेजी और हिंदी का प्रभाव अधिक होता है। इस कारण भाषा शिक्षा से संबंधित नीतियों का प्रभाव विभिन्न सामाजिक समूहों पर अलग-अलग हो सकता है (Prasad, 2025)। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने इस विविधता को ध्यान में रखते हुए बहुभाषिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने की अनुशंसा की है (Singh, 2023)।

चर्चा- 1 मातृभाषा आधारित शिक्षा और संज्ञानात्मक विकास: शोध बताते हैं कि मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र विषयवस्तु को अधिक आसानी से समझते हैं। इसका कारण यह है कि मातृभाषा छात्रों की सोच और अनुभवों से जुड़ी होती है। Cummins (2000) के अनुसार मातृभाषा में मजबूत आधार विकसित होने से दूसरी भाषाओं को सीखना भी आसान हो जाता है। इसे **Common Underlying Proficiency Model** कहा जाता है। इस मॉडल के अनुसार विभिन्न भाषाओं के बीच संज्ञानात्मक कौशल का आदान-प्रदान होता है। इसका अर्थ यह है कि यदि छात्र अपनी मातृभाषा में पढ़ाई करते हैं तो वे अन्य भाषाओं को भी अधिक प्रभावी ढंग से सीख सकते हैं। मातृभाषा आधारित शिक्षा छात्रों की रचनात्मकता और आलोचनात्मक सोच को भी विकसित करती है। इससे छात्र केवल जानकारी प्राप्त करने के बजाय ज्ञान का विश्लेषण करने में सक्षम होते हैं।

2 बहुभाषिक शिक्षा और भाषाई दक्षता: बहुभाषिक शिक्षा छात्रों की भाषाई क्षमता को बढ़ाने के साथ-साथ उनकी बौद्धिक क्षमता को भी विकसित करती है। Garcia (2009) के अनुसार बहुभाषिक छात्र अक्सर अधिक लचीली सोच विकसित करते हैं। वे विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों को समझने में अधिक सक्षम होते हैं। भारत जैसे बहुभाषी देश में बहुभाषिक शिक्षा छात्रों को स्थानीय और वैश्विक दोनों संदर्भों में कार्य करने के लिए तैयार कर सकती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने भी बहुभाषिक शिक्षा को बढ़ावा देने पर बल दिया है। नीति के अनुसार छात्रों को कम से कम तीन भाषाएँ सीखने का अवसर दिया जाना चाहिए (Government of India, 2020)।

3 भाषा नीति और सामाजिक समानता: भाषा नीति केवल शैक्षिक निर्णय नहीं बल्कि सामाजिक शक्ति संरचना से भी जुड़ी होती है। Bourdieu (1986) के अनुसार भाषा सामाजिक पूंजी का एक रूप है। जिस भाषा को शिक्षा प्रणाली में अधिक महत्व दिया जाता है, वह भाषा सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक अवसरों से जुड़ जाती है। भारत में अंग्रेजी भाषा को अक्सर उच्च सामाजिक पूंजी का प्रतीक माना जाता है। इसके कारण कई अभिभावक अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में भेजना पसंद करते हैं। हालाँकि इस प्रवृत्ति से शिक्षा प्रणाली में असमानता भी उत्पन्न हो सकती है क्योंकि सभी छात्रों के पास अंग्रेजी भाषा सीखने के समान अवसर नहीं होते। इस संदर्भ में मातृभाषा आधारित शिक्षा सामाजिक समानता को बढ़ावा देने का एक महत्वपूर्ण साधन हो सकती है।

4 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का शैक्षिक महत्व: राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय शिक्षा प्रणाली में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का प्रयास है। इस नीति ने शिक्षा में भाषा के महत्व को पुनः स्थापित किया है। नीति के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा या स्थानीय भाषा में प्रदान करने का प्रयास किया जाना चाहिए (Mahato & Raj, 2026)। इसके अतिरिक्त नीति बहुभाषिक शिक्षा को भी प्रोत्साहित करती है जिससे छात्रों को विभिन्न भाषाओं को सीखने का अवसर मिल सके (Shukla & Rakesh, 2025)। यह नीति भारतीय भाषाओं के संरक्षण और विकास के लिए भी महत्वपूर्ण है।

शैक्षिक निहितार्थ - इस अध्ययन के निष्कर्ष शिक्षा नीति और शैक्षिक अभ्यास दोनों के लिए महत्वपूर्ण हैं। पहला, शिक्षा प्रणाली में मातृभाषा आधारित शिक्षा को बढ़ावा देना आवश्यक है क्योंकि इससे छात्रों की सीखने की क्षमता और संज्ञानात्मक विकास में सुधार हो सकता है। दूसरा, बहुभाषिक शिक्षा मॉडल को शिक्षा प्रणाली में प्रभावी ढंग से लागू करना आवश्यक है ताकि छात्र विभिन्न भाषाओं को सीख सकें और वैश्विक समाज में प्रभावी ढंग से कार्य कर सकें। तीसरा, शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भाषा-संवेदी शिक्षण पद्धतियों को शामिल करना आवश्यक है। चौथा, डिजिटल शिक्षा संसाधनों को भारतीय भाषाओं में विकसित करना भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अध्ययन के प्रमुख निष्कर्ष- इस अध्ययन में मातृभाषा आधारित शिक्षा, बहुभाषिक शिक्षा तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के भाषा संबंधी प्रावधानों का समीक्षात्मक विश्लेषण किया गया। साहित्य समीक्षा और सैद्धांतिक विश्लेषण से निम्नलिखित प्रमुख निष्कर्ष सामने आए।

1. मातृभाषा आधारित शिक्षा का संज्ञानात्मक प्रभाव: साहित्य समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में प्रदान करने से छात्रों की सीखने की क्षमता अधिक विकसित होती है। मातृभाषा छात्रों की सोच और अनुभवों से जुड़ी होती है, इसलिए मातृभाषा में शिक्षा छात्रों को जटिल अवधारणाओं को समझने में सहायता करती है। Cummins (2000) के अनुसार यदि छात्रों की पहली भाषा में मजबूत आधार विकसित होता है तो वे दूसरी भाषा को भी अधिक प्रभावी ढंग से सीख सकते हैं। इसी प्रकार UNESCO (2016) ने भी अपने अध्ययन में यह पाया कि मातृभाषा आधारित शिक्षा सीखने के परिणामों को बेहतर बनाती है। मातृभाषा में शिक्षा छात्रों के आत्मविश्वास और रचनात्मकता को भी बढ़ाती है। छात्र अपनी भाषा में विचार व्यक्त करने में अधिक सहज होते हैं, जिससे उनकी आलोचनात्मक सोच विकसित होती है (Khan, 2024)।

2 बहुभाषिक शिक्षा का बौद्धिक और भाषाई प्रभाव: बहुभाषिक शिक्षा छात्रों की भाषाई दक्षता और संज्ञानात्मक लचीलापन दोनों को विकसित करती है। Garcia (2009) के अनुसार बहुभाषिक छात्र विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों को समझने में अधिक सक्षम होते हैं। भारत जैसे बहुभाषी देश में बहुभाषिक शिक्षा छात्रों को स्थानीय और वैश्विक दोनों संदर्भों में कार्य करने के लिए तैयार करती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने बहुभाषिक शिक्षा को शिक्षा प्रणाली का एक महत्वपूर्ण तत्व माना है और छात्रों को विभिन्न भाषाओं को सीखने के अवसर प्रदान करने की अनुशंसा की है (Government of India, 2020)।

3 भाषा नीति और सामाजिक समानता: भाषा नीति शिक्षा प्रणाली में सामाजिक समानता को प्रभावित करती है। Bourdieu (1986) के अनुसार भाषा सामाजिक पूंजी का एक रूप है। जिस भाषा को शिक्षा प्रणाली में अधिक महत्व दिया जाता है, वह भाषा सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक अवसरों से जुड़ जाती है। भारत में अंग्रेजी भाषा को अक्सर सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़ा जाता है। इसके कारण कई बार

शिक्षा प्रणाली में असमानता उत्पन्न हो जाती है क्योंकि सभी छात्रों के पास अंग्रेजी भाषा सीखने के समान अवसर नहीं होते। इस संदर्भ में मातृभाषा आधारित शिक्षा शिक्षा में समान अवसर प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण साधन हो सकती है।

4 राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की भाषा नीति का प्रभाव: राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने भारतीय शिक्षा प्रणाली में भाषा के महत्व को पुनः स्थापित किया है। नीति के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा या स्थानीय भाषा में प्रदान की जानी चाहिए (Mahato & Raj, 2026)। इसके अतिरिक्त नीति बहुभाषिक शिक्षा को भी प्रोत्साहित करती है जिससे छात्रों को विभिन्न भाषाओं को सीखने का अवसर मिल सके (Shukla & Rakesh, 2025)। यह नीति भारतीय भाषाओं के संरक्षण और विकास के लिए भी महत्वपूर्ण है।

शोध उद्देश्य-अध्ययन के प्रमुख निष्कर्ष (Objectives-Findings Mapping)

शोध उद्देश्य	अध्ययन के प्रमुख निष्कर्ष
शिक्षा में मातृभाषा आधारित शिक्षा के महत्व का विश्लेषण	मातृभाषा आधारित शिक्षा छात्रों की संज्ञानात्मक क्षमता और सीखने के परिणामों को बेहतर बनाती है
राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की भाषा नीति का अध्ययन	नीति मातृभाषा और बहुभाषिक शिक्षा को बढ़ावा देती है
बहुभाषिक शिक्षा के प्रभावों का विश्लेषण	बहुभाषिक शिक्षा भाषाई दक्षता और बौद्धिक विकास को सुदृढ़ करती है
भारतीय भाषाओं के माध्यम से समावेशी शिक्षा का अध्ययन	भारतीय भाषाओं में शिक्षा सामाजिक समानता और समावेशिता को बढ़ावा देती है
भाषा नीति और सामाजिक समानता का विश्लेषण	मातृभाषा आधारित शिक्षा शिक्षा प्रणाली में असमानता को कम करने में सहायक हो सकती है

नीति संबंधी निहितार्थ (Policy Implications): इस अध्ययन के निष्कर्ष शिक्षा नीति और शैक्षिक योजना दोनों के लिए महत्वपूर्ण निहितार्थ प्रस्तुत करते हैं।

1 मातृभाषा आधारित शिक्षा को बढ़ावा देना: शिक्षा नीति में मातृभाषा आधारित शिक्षा को प्राथमिकता दी जानी चाहिए क्योंकि यह छात्रों की सीखने की क्षमता को बढ़ाने में सहायक होती है।

2 बहुभाषिक शिक्षा मॉडल का विकास: शिक्षा प्रणाली में बहुभाषिक शिक्षा मॉडल को प्रभावी ढंग से लागू करना आवश्यक है ताकि छात्र विभिन्न भाषाओं को सीख सकें।

3 शिक्षक प्रशिक्षण: शिक्षकों को बहुभाषिक और भाषा-संवेदी शिक्षण पद्धतियों का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

4 डिजिटल संसाधनों का विकास: भारतीय भाषाओं में डिजिटल शिक्षण सामग्री विकसित करना अत्यंत महत्वपूर्ण है।

भविष्य के शोध की दिशा (Future Research Directions): भविष्य में निम्नलिखित विषयों पर विस्तृत शोध किया जा सकता है:

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के भाषा प्रावधानों का दीर्घकालिक प्रभाव।
2. बहुभाषिक शिक्षा और डिजिटल शिक्षा के संबंध का अध्ययन।
3. ग्रामीण और शहरी शिक्षा प्रणाली में भाषा नीति का तुलनात्मक अध्ययन।
4. मातृभाषा आधारित शिक्षा और सामाजिक समानता के बीच संबंध।

निष्कर्ष- इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मातृभाषा आधारित शिक्षा और बहुभाषिक शिक्षा भारत की शिक्षा प्रणाली को अधिक प्रभावी और समावेशी बना सकती है। मातृभाषा में शिक्षा छात्रों के संज्ञानात्मक विकास, आत्मविश्वास और सीखने की दक्षता को बढ़ाती है। इसके अतिरिक्त बहुभाषिक शिक्षा छात्रों को विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों को समझने में सहायता करती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने भारतीय शिक्षा प्रणाली में भाषा के महत्व को पुनः स्थापित किया है और भारतीय भाषाओं को शिक्षा के केंद्र में लाने का प्रयास किया है। यदि इस नीति को प्रभावी ढंग से लागू किया जाए तो यह शिक्षा में समान अवसर, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक संरक्षण को बढ़ावा दे सकती है।

---O---

TEI मार्कअप: डिजिटल युग में शोध-पाठ की संरचना और पहचान का आधार

मनमीत कौर

असिस्टेंट लाइब्रेरियन, केंद्रीय पुस्तकालय, उत्तराखंड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

1. प्रस्तावना (Introduction)- प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन सदियों से हस्तलिखित पांडुलिपियों पर निर्भर रहा है। डिजिटल युग में इन पाठों को इलेक्ट्रॉनिक रूप में संरक्षित करना और उनका गहन विश्लेषण करना एक जटिल परंतु अनिवार्य चुनौती बन गई है।

एक साधारण सादा पाठ (plain text) जहाँ केवल अक्षरों का एक निरंतर क्रम मात्र होता है, वहीं TEI (Text Encoding Initiative) एक ऐसी मानकीकृत XML-आधारित भाषा है जो पाठ को संरचनात्मक और अर्थपूर्ण आयाम प्रदान करती है। TEI Guidelines के अनुसार, 'Markup' उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा किसी साधारण टेक्स्ट फ़ाइल में विशेष कोड (टैग) जोड़े जाते हैं, जो उस पाठ की संरचना, अर्थ और प्रारूप को परिभाषित करते हैं।

उपमा: यदि साधारण पाठ एक शरीर है, तो TEI मार्कअप उसका संरचना है—जो उसे संरचना, स्थिरता और अर्थ प्रदान करता है।

यह शोध-पत्र TEI मार्कअप को एक डिजिटल 'कंकाल' के रूप में प्रस्तुत करता है और सादे पाठ की तुलना में TEI-एन्कोडेड संस्कृत पाठ के बहुआयामी लाभों पर प्रकाश डालता है।

2. TEI मार्कअप क्या है? (What is TEI?)- TEI (Text Encoding Initiative) एक अंतरराष्ट्रीय संघ है जिसने इलेक्ट्रॉनिक पाठों के एन्कोडिंग के लिए विस्तृत दिशा-निर्देश विकसित किए हैं। ये दिशा-निर्देश XML (eXtensible Markup Language) पर आधारित हैं और यह सुनिश्चित करते हैं कि पाठों को इस प्रकार एन्कोड किया जाए कि वे विभिन्न सॉफ्टवेयर और प्लेटफॉर्मों पर सही ढंग से कार्य कर सकें (Burnard & Bauman, 2021)

TEI मार्कअप का मुख्य उद्देश्य पाठ की 'सतह' (surface text) के साथ-साथ उसकी 'गहरी संरचना' (deep structure) को भी डिजिटल रूप में सुरक्षित रखना है। उदाहरण के लिए, एक प्राचीन पांडुलिपि में मुख्य पाठ, टीका (commentary), पाठ-भेद (variant readings) और संपादकीय निर्णयों को साधारण सादे पाठ में समाहित नहीं किया जा सकता। TEI इन सभी पहलुओं को व्यवस्थित रूप से एन्कोड करने की क्षमता प्रदान करता है।

TEI निम्न प्रकार की सूचनाएँ जोड़ सकता है:

- अध्याय, श्लोक, अनुच्छेद की संरचना
- लेखक, तिथि, स्रोत-ग्रंथ की जानकारी
- छंद (metre) और व्याकरणिक जानकारी

- टीका और संपादकीय टिप्पणियाँ
- विभिन्न पांडुलिपियों के पाठांतर (variant readings)

3. तुलनात्मक अध्ययन: सादा पाठ बनाम TEI-एन्कोडेड पाठ

3.1 साधारण संस्कृत पाठ (Plain Text)

आइए, भगवद्गीता के एक प्रसिद्ध श्लोक को साधारण UTF-8 पाठ में देखें:

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

माकर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

इस प्रारूप में, यद्यपि संस्कृत अक्षर सही हैं, तथापि कंप्यूटर को निम्नलिखित जानकारी अनुपलब्ध है:

- यह एक श्लोक है या गद्य—यह भेद स्पष्ट नहीं है
- इसका छंद अनुष्टुप् है—यह सूचना अनुपस्थित है
- यह किस अध्याय का, कौन-सा श्लोक है—संदर्भ अज्ञात है
- विसर्ग ‘:’ और दंड ‘।’ का विशेष भाषाई अर्थ—अचिह्नित है

यह पाठ पढ़ने के लिए उपयुक्त है, परंतु स्वचालित विश्लेषण, उन्नत खोज या तुलनात्मक अध्ययन के लिए लगभग अनुपयोगी है।

3.2 TEI-एन्कोडेड संस्कृत पाठ (TEI Example)

अब उसी श्लोक का TEI XML प्रारूप देखें

```
<TEI xmlns="http://www.tei-c.org/ns/1.0">
  <teiHeader>
    <fileDesc>
      <titleStmt>
        <title>श्रीमद्भगवद्गीता: कर्मयोग</title>
        <author>महर्षि व्यास</author>
      </titleStmt>
      <sourceDesc>
        <p>पांडुलिपि: पुस्तकालय क्रमांक १२३४, 2024</p>
      </sourceDesc>
    </fileDesc>
  </teiHeader>
  <text><body>
    <div type="chapter" n="2">
```

```
<head>अध्याय २: सांख्ययोग</head>
<lg type="śloka" met="अनुष्टुप्" n="47">
<l n="1">कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।</l>
<l n="2">मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥</l>
</lg>
</div>
</body></text>
:
</TEI>
```

टैग-व्याख्या (Tag Annotation):

- <teiHeader>- पुस्तक के लाइब्रेरी कार्ड की तरह: शीर्षक, लेखक, स्रोत
- <div type="chapter">- अध्याय की सीमा और क्रम-संख्या
- <lg met="अनुष्टुप्">- छंद-जानकारी सहित श्लोक-समूह
- <l n="1">- श्लोक के प्रत्येक चरण (पाद) की पहचान

यह TEI संरचना न केवल पाठ को मनुष्यों के लिए स्पष्ट करती है, अपितु कंप्यूटर-प्रसंस्करण को भी सक्षम बनाती है।

4. तुलनात्मक विश्लेषण (Comparative Analysis)- निम्नलिखित तालिका दोनों प्रारूपों के प्रमुख अंतरों को संक्षेप में प्रस्तुत करती है:

विशेषता	साधारण पाठ	TEI-एन्कोडेड पाठ
संरचना (Structure)	नहीं	स्पष्ट एवं व्यवस्थित
मशीन-पठनीयता	निम्न	उच्च
खोज क्षमता (Searchability)	सीमित	उन्नत
अर्थ-सूचना (Semantics)	अनुपलब्ध	उपलब्ध
टीका एन्कोडिंग	असम्भव	सम्भव (<note> टैग)
पाठांतर रिकॉर्ड करना	कठिन	सुगम (<app>, <rdg>)
दीर्घकालिक संरक्षण	अनिश्चित	सुनिश्चित (XML मानक)
पुनः उपयोग (Reusability)	कठिन	आसान

5. TEI मार्कअप के प्रमुख लाभ (Key Benefits)

5.1 स्थायित्व और अंतर-प्रचालनशीलता

चूँकि XML एक मानकीकृत और मुक्त-स्रोत प्रारूप है, इसलिए भविष्य में भी—सौ वर्षों के पश्चात भी—कंप्यूटर TEI फ़ाइलों को पढ़ और समझ सकेंगे। सादे पाठ की तुलना में TEI-एन्कोडेड पाठ किसी विशेष सॉफ्टवेयर पर निर्भर नहीं है।

5.2 टीका और टिप्पणी एन्कोडिंग

TEI मुख्य पाठ और टीकाकारों की टिप्पणियों को अलग-अलग स्तरों पर सुरक्षित रखने की अनुमति देता है। उदाहरणार्थः

```
<note type="commentary" resp="Mallinātha">...मल्लिनाथ की  
टीका...</note>
```

इस प्रकार किसी विशेष शब्द पर मल्लिनाथ, अभिनवगुप्त, या अन्य टीकाकारों की व्याख्या को मूल पाठ के साथ एक ही फ़ाइल में व्यवस्थित रखा जा सकता है।

5.3 समीक्षात्मक संस्करण (Critical Apparatus)

विभिन्न पांडुलिपियों में पाए जाने वाले पाठांतरों को TEI के <app> और <rdg> टैग से एन्कोड किया जा सकता है:

```
<app><rdg wit="MS_A">भूर्मा</rdg><rdg wit="MS_B">भूः  
मा</rdg></app>
```

यह सुविधा किसी भी डिजिटल समीक्षात्मक संस्करण (critical edition) की नींव है।

5.4 उन्नत खोज और विश्लेषण

TEI एन्कोडिंग से निम्न प्रकार की उन्नत खोज सम्भव होती है:

- केवल 'अनुष्टुप्' छंद में लिखे श्लोक खोजना
- किसी विशेष शब्द पर मल्लिनाथ की सभी टीकाएँ एक साथ देखना
- समस्त पात्रों (<persName>) की स्वचालित सूची तैयार करना
- ग्रंथों की तुलनात्मक आवृत्ति-विश्लेषण करना

6. चुनौतियाँ (Challenges)

यद्यपि TEI अत्यंत शक्तिशाली है, परंतु व्यवहार में इसके सामने कुछ प्रमुख चुनौतियाँ हैं:

- सीखने की खड़ी ढलान (Steep Learning Curve): TEI दिशा-निर्देश अत्यंत विस्तृत और जटिल हैं। नए शोधकर्ताओं को इसमें दक्षता प्राप्त करने में पर्याप्त समय लगता है।
- श्रमसाध्य प्रक्रिया: सदियों पुरानी देवनागरी पांडुलिपियों को टाइप करना या OCR (Optical Character Recognition) द्वारा डिजिटाइज़ करना अत्यंत समय-गहन कार्य है।

- एन्कोडिंग की विविधता: TEI बहुत लचीला है, जिसके कारण विभिन्न परियोजनाएँ एक ही विशेषता को भिन्न-भिन्न प्रकार से एन्कोड कर सकती हैं, जिससे अंतर-प्रचालनशीलता बाधित हो सकती है।
- तकनीकी विशेषज्ञता की आवश्यकता: XML, XSLT और संबद्ध तकनीकों का प्रारंभिक ज्ञान अनिवार्य है।

7. डिजिटल मानविकी में TEI का महत्व- TEI विशेष रूप से संस्कृत जैसे प्राचीन ग्रंथों के डिजिटलीकरण के लिए उपयुक्त है, क्योंकि इनमें जटिल व्याकरणिक संरचनाएँ, समृद्ध टीका-परंपरा, और बहुविध पांडुलिपि-प्रमाण होते हैं। TEI इन सभी को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने में सक्षम है (Ide, 2019)

TEI की सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धियों में SARIT (Search and Retrieval of Indic Texts) परियोजना है, जो TEI मानकों का अनुसरण करते हुए संस्कृत, प्राकृत और अन्य भारतीय भाषाओं के ग्रंथों का एक विशाल डिजिटल पुस्तकालय प्रदान करती है। SARIT के TEI-आधारित प्रारूप की बदौलत मूल ग्रंथों के साथ-साथ उनकी टीकाएँ भी सुरक्षित हैं और भावी पीढ़ियाँ उनका गहन विश्लेषण कर सकेंगी।

8. निष्कर्ष (Conclusion)- प्राचीन संस्कृत साहित्य के गंभीर डिजिटल अध्ययन के लिए TEI मार्कअप न केवल उपयोगी है, अपितु अत्यावश्यक है। यह पाठ को केवल शब्दों का एक निष्क्रिय संग्रह न रहकर, एक संरचित, खोजने-योग्य और अंतःक्रियाशील डिजिटल संसाधन बनाता है।

जहाँ साधारण पाठ केवल पढ़ने योग्य है, वहीं TEI-एन्कोडेड पाठ है:

- समझने योग्य- संरचना और अर्थ के साथ
- खोजने योग्य- उन्नत और बहुआयामी खोज के साथ
- विश्लेषण योग्य- स्वचालित प्रसंस्करण के साथ
- संरक्षण योग्य- XML मानक के दीर्घकालिक स्थायित्व के साथ

इस प्रकार, TEI मार्कअप वास्तव में एक 'डिजिटल कंकाल' है—जो पाठ को न केवल खड़ा रखता है, बल्कि उसे गति (search functionality), संरचना (structure) और जीवन (context) भी प्रदान करता है। संस्कृत की समृद्ध पांडुलिपि-परंपरा को डिजिटल रूप में जीवंत रखने के लिए TEI एक अपरिहार्य माध्यम है।

---O---

वेदार्थ निर्णय में यास्क की पद्धति

डॉ. सूर्य प्रकाश पाण्डेय

सहा. आचार्य(अतिथि) वेद विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

भू-मण्डल के प्राचीनतम साहित्य वेद में निहित गूढ़ार्थ को समझने तथा अध्ययन-अध्यापन की सुविधा को दृष्टि में रखते हुये मनीषियों ने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष नामक वेदांग के रूप में अत्यन्त विपुल साहित्य की रचना की। वेदाङ्गो का उल्लेख सर्वप्रथम मुण्डकोपनिषद् में प्राप्त होता है- तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ॥^१ पाणिनीय शिक्षा में वेद पुरुष का वर्णन करते हुए उसके छः अङ्गों के रूप में सभी वेदाङ्गो का वर्णन है- छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते, ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥^२ शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्, तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥^३

यास्क मुनि ने निरुक्त के प्रणयन के सम्बन्ध में कहा है – ‘उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे विल्मग्रहणाय इमंग्रन्थं समाम्रासिषुः वेदं च वेदांगानि च ॥’^४ अर्थात् जब केवल उपदेश या प्रवचन से पठन-पाठन में कठिनाई का अनुभव होने लगा तो विद्यार्थियों की विशेष सुविधा की दृष्टि से वेदांगों का प्रणयन किया गया। आचार्य सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में निरुक्त के बारे में लिखा है- ‘अति गम्भीरस्य वेदस्य अर्थम् अवबोधयितुं शिक्षादीन षडङ्गानि प्रवृत्तानि ॥’^५ अर्थात् वेद में निहित अत्यन्त गम्भीर अर्थ का अवबोधन कराने के लिये ही शिक्षादि छः वेदांगों की रचना की गयी। ऋग्वेदभाष्यभूमिका में ही आचार्य सायण ने निरुक्त की व्युत्पत्ति दी है- अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् तथा एकैकस्य पदस्य संभावित अवयवार्था यत्र निःशेषणोच्यन्ते तन्निरुक्तम् ॥^६

महर्षि यास्क कृत निरुक्त ग्रन्थ निरुक्त वेदांग के एकमात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में सम्प्रति हमें उपलब्ध है। निरुक्त के अध्ययन से ये तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि निरुक्त ग्रन्थों की भी एक लम्बी परम्परा थी। यास्क ने स्वयं अपने ग्रन्थ में अपने से प्राचीन नैरुक्त आचार्यों के मतों का उल्लेख कर इस बात की पुष्टि की है। नैरुक्त आचार्य सर्वप्रथम वेदों से कठिन शब्दों को चुनकर एक प्रकार के शब्दकोष का निर्माण करते थे जिसे निघण्टु कहा जाता था। निरुक्त की भाँति निघण्टु भी सम्प्रति हमें एक ही उपलब्ध होता

१. मुण्डकोपनिषद् 1-1-5
२. पाणिनीयशिक्षा 41-42
३. निरुक्त 1-20
४. ऋग्वेदभाष्य भूमिका पृष्ठ 49
५. ऋग्वेदभाष्य भूमिका पृष्ठ 55 -56

है, जो कि प्रजापति कश्यप द्वारा प्रणीत माना जाता है।^६ महाभारत के मोक्षधर्म पर्व में कश्यप प्रजापति को निघण्टु का कर्त्ता कहा गया है। कश्यप प्रजापति मुनि ने निघण्टु में 1341 शब्दों को सम्मिलित किया है। उसका प्रथम शब्द गो तथा अन्तिम शब्द देवपत्नी है। इसीलिये इसे गवादिदेवपत्न्यन्त की संज्ञा भी दी जाती है। इसी शब्द सामान्नाय की व्याख्या में निरुक्त ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य के अनुसार इस ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है- ‘वर्णागमों वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरो वर्णविकार नाशौ, धातोस्तदर्थान्तिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम् ॥’

निरुक्त तीन काण्डों तथा चौदह अध्यायों में विभाजित है जिसमें अन्तिम दो अध्याय परिशिष्ट माने जाते हैं। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड है। जिसमें गो से अपारे तक 911 पदों की व्याख्या है। चौथे से छठे अध्याय पर्यन्त नैगम काण्ड हैं जिसमें जहा से लेकर ऋषिसम तक 279 पदों की व्याख्या है तथा सातवें से लेकर चौदहवें अध्याय पर्यन्त दैवत काण्ड है जिसमें अग्नि से लेकर देवपत्नी तक 151 पदों की व्याख्या है। निघण्टु पर देवराज यजु ने निघण्टु निर्वचन नामक व्याख्या लिखी है। इसके अतिरिक्त निरुक्त पर भी दुर्गाचार्य स्कन्द माहेश्वर तथा वररुचि की टीकाएं उपलब्ध हैं। निरुक्त ग्रन्थ के प्रणयन का मुख्य प्रयोजन वेदार्थ को समझना है। यद्यपि मंत्रों की व्याख्या ब्राह्मण आदि प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र होती रही है फिर भी व्यवस्थित रूप से निरुक्त में ही मन्त्रों की व्याख्या सर्वप्रथम की गयी है। आचार्ययास्क के अनुसार निरुक्त का अध्ययन किये बिना वेद मन्त्रों में निहित गूढ़ अर्थ को नहीं समझा जा सकता है - अथापि इदं अन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययों न विद्यते अर्थमप्रतियते नात्यन्त स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम् स्वार्थ साधक च ॥^७ इस निरुक्तशास्त्र में निपुणता प्राप्त किये बिना मन्त्रों में निहित विविध अर्थों को जाने बिना उन मन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों के स्वर संस्कार अर्थात् प्रकृति व प्रत्यय का निर्धारण करना भी सम्भव नहीं होगा। चूंकि निरुक्त मन्त्रों के गूढ़ार्थ को जानने का सर्व प्रथम साधन तथा आधार है, इसीलिये इसे विद्यास्थान माना जाता है। इसके साथ ही व्याकरणशास्त्र की पूर्णता भी निरुक्त के अध्ययन से ही प्राप्त होती है तथा निरुक्त स्वार्थ अर्थात् वेद व्याख्यान का साधक भी है। निरुक्त के द्वितीय प्रयोजन में यास्क कहते हैं कि निरुक्त के ज्ञान के बिना वैदिक मन्त्रों को संहितापाठ से पदपाठ में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि निरुक्त में चार प्रकार के पद बताये गये हैं - नामाख्यातोचोपसर्गनिपाताः जब तक अध्येता को इस प्रकार का विशेष ज्ञान नहीं होता तब तक वह संहितापाठ से पदपाठ में परिवर्तन नहीं कर पायेगा। उदाहरण के रूप में दो उद्धरण दिये हैं। प्रथम- “अवसाय पदवते रुद्र मृळ”^८ तथा द्वितीय “अवसायाश्चान”^९ प्रस्तुत

६. वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत नैघण्टुक पदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्चते तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः महाभारत मोक्षधर्मपर्व 86-87

७. निरुक्त 1-15

८. ऋग्वेद 10-169-1

९. ऋग्वेद 1-104-1

दोनों अवसाय पद का अर्थ भिन्न-भिन्न है तथा पदपाठ में भी दो भिन्न अर्थ प्रयुक्त हुआ है। प्रथम अवसाय अव्+अस =अवस शब्द चतुर्थी विभक्ति एक वचन में अवसाय रूप सिद्ध होता है, जो पदवते पद की विशेषता बता रहा है, इसीलिये ऋग्वेद पदपाठ कर्ता आचार्य शाकल्य ने पदपाठ में इसको मूल स्वरूप में ही रखा है। द्वितीय मन्त्र में आये अवसाय पद का अर्थ खोलकर किया जाता है इसलिये ये अवसाय पद क्रियापद होगा तथा इसकी सिद्धि अव उपसर्ग पूर्वक सा (षोडन्त कर्मणि) से ल्यप् प्रत्यय करने से होती है। यहाँ अव उपसर्ग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है इसीलिये पदपाठ कर्ता आचार्य शाकल्य इस पद को पदपाठ में ‘अवऽसाय’ इस रूप में रखा है इन सब सूक्ष्म किन्तु अति गम्भीर वैदिक विषयों की जानकारी निरुक्तशास्त्र के अध्ययन से ही सम्भव है। आचार्य यास्क वैदिक मन्त्रों से सम्बद्ध देवतातत्त्व का ज्ञान कराना निरुक्त का तृतीय प्रयोजन बतलाया है। यज्ञों में बहुत से ऐसे कार्यों का निर्देश होता है जिसका सम्बन्ध भिन्न - भिन्न देवताओं से होता इसलिये देवताओं के ज्ञान के अभाव में निर्देशित कार्यों को समझना कठिन हो जाता है। इसी कठिनता का निवारण निरुक्त के अध्ययन से होता है। प्राचीनकाल में मीमांसक लिंग द्वारा मन्त्रों में देवताओं का निश्चय करते थे। किसी देवता विशेष का वह चिह्न जो उसे अन्य देवताओं से भिन्न करता है, लिंग कहलाता है। मीमांसकों का यह मानना था कि प्रत्येक देवता का अपना विशिष्ट पहचान होता है तथा प्रत्येक मन्त्र में भी कोई विशेष चिह्न होता है यह विशेष चिह्न जिस देवता से सम्बन्धित होता है वह मन्त्र उसी देवता का मानना चाहिए। आचार्य यास्क इससिद्धान्त से सर्वथा असहमत हैं उनके अनुसार जिन मन्त्रों में देवतातत्त्व का ज्ञान हो चुका है उन मन्त्रों के भी लिंग के विशिष्ट पहचान के आधार पर दूसरे देवता माने जाने लगेंगे।

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूतऐधि ।

हत्वाय शत्रून विभजस्व वेद ओज मिमानो वि मृदोनुदस्व ॥^{१०}

प्रस्तुत मन्त्र में मन्यु देवता को सम्बोधित किया गया है इसलिए निःसन्देह इस मन्त्र के देवता मन्यु हैं। परन्तु मीमांसकों के विशिष्ट चिह्न वालेसिद्धान्त से मन्त्र में आये त्विषित (प्रज्वलन) सेनानी (सेनापति) सहुरे (शक्तिशाली) आदि विशिष्ट चिह्नों के आधार पर इस मन्त्र के देवता अग्नि सिद्ध होते हैं। प्रस्तुत उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि मीमांसकों के लिंग सिद्धान्त से मन्त्रों में स्थित देवताओं को सर्वत्र नहीं जाना जा सकता है इसका सम्पूर्ण ज्ञान निरुक्त के अध्ययन से ही हो सकता है। ज्ञान को प्राप्त करने के लिए निरुक्त का अध्ययन करना चाहिए ये चतुर्थ किन्तु सबसे महत्वपूर्ण प्रयोजनके रूप में बताया गया है। यास्क के अनुसार ज्ञान प्राप्त करना उसी प्रकार आवश्यक है जैसे स्मृतियाँ ब्राह्मणों को छः अंगों से युक्त वेदों के अध्ययन को आवश्यक मानती है।

ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ॥^{११}

१०. ऋग्वेद 10-84-2

११. महाभाष्य पशुपश

यहां प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्ति की बात तथा साथ ही अप्रत्यक्ष रूप में अज्ञान के निवारण की बात कही जा रही है। सामान्यतया लोक व्यवहार में ये देखा जाता है कि जो विद्वान होता है वेद मर्मज्ञ होता है, उसकी प्रशंसा होती है, तथा अज्ञानी जन निन्दा के पात्र होते हैं। निरुक्तशास्त्र का अध्ययन ही व्यक्ति को ज्ञान गंगा की ओर उन्मुख कर वेद मर्मज्ञ बनने में सहायता प्रदान करता है।

निरुक्त के तृतीय काण्ड में वैदिक देवशास्त्र के विषय में पर्याप्त विचार किया गया है। महर्षि यास्क ने देव शब्द का निर्वचन “देवो दानाद्वादीपनाद्वा द्योतनाद्वाद्युस्थानो भवतीति वा”^{१२} किया है। अर्थात् दान देने के कारण दीप्त होने के कारण द्योतित होने के कारण या द्युलोक में स्थित होने के कारण देव कहलाते हैं। “यो देवः सा देवता”^{१३} जो देव है वही देवता है। देवताओं के स्वरूप को सम्यक् रूप से समझने के लिए उनकी संख्या वर्गीकरण तथा आधार को समझना अत्यन्त आवश्यक है। ऋग्वेद में देवताओं की संख्या 33 बताई गयी है- ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सु-क्षितौ महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वं ॥^{१४} इस तैंतीस संख्या का आधार तीनों लोक है। इन देवताओं का नाम्ना अथवा स्वरूपतः वर्णन संहिता में नहीं पाया जाता है एक अन्य मन्त्रमें यह संख्या 3339 बताई गयी है।

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिशच्च देवानव चासपर्यन् ॥^{१५}

आचार्य यास्क के मत में एक ही देवता है जो अपने ऐश्वर्य के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत हैं। अतः देवता एक ही है जो पृथिवी पर अग्नि अन्तरिक्ष में वायु या इन्द्र तथा द्युलोक में आदित्य के रूप में वर्णित हैं। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ॥^{१६} इस एकत्ववाद में भी तीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं। प्रथम अग्नि को सब देवताओं में प्रधान मानता है। “अग्निवैसर्वा देवताः”^{१७} द्वितीय मतानुसार सूर्य सब देवताओं में प्रधान हैं। आचार्य शौनक के अनुसार इस जगत का सृष्टा और संहारकर्त्ता सूर्य देवता ही है तथा वही तीन रूप धारण करके तीनों लोकों में विद्यमान है।^{१८} तृतीय मतानुसार प्रजापति ही सर्वप्रमुख देवता है। इन्द्र अग्नि आदित्यादि उसी प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं- हिरण्यगर्भः समवर्त्ताग्ने भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥^{१९} नैरुक्तों के अनुसार तीन ही देवता है-

१२. निरुक्त 7-15

१३. निरुक्त 7-15

१४. ऋग्वेद 3-3-9

१५. ऋग्वेद 10-52-6

१६. ऋग्वेद 1-164-46

१७. ऐ० ब्रा० 1-1

१८. बृहद्देवता 1-6-1

१९. ऋग्वेद 10-121-1

त्रिस्रः एव देवता इति नैरुक्ताः अग्निः पृथिवी स्थानः वायुर्वाइन्द्रोवाऽन्तरिक्ष स्थानः सूर्यो द्युस्थानः^{२०}

तीन ही देवता है अग्नि पृथिवी लोक का वायु अथवा इन्द्र अन्तरिक्ष लोक तथा सूर्य द्युलोक के देवता है मन्त्र में स्थित देवता के परिज्ञान के विषय में यास्क का कथन है कि किसी मन्त्र में ऋषि जिस कामना को लेकर जिस देवता की प्रधानता चाहते हुए स्तुति करता है। उसी देवता का वह मन्त्र होता है- यत्कामः ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति ॥^{२१} कात्यायन के अनुसार- यस्य वाक्यं स ऋषिः या तेनोच्यते सा देवता ॥^{२२} अर्थात् जिसका वाक्य होता है वह ऋषि तथा जो वाक्य द्वारा कहा जाता है वह देवता है। किसी मन्त्र में कौन देवता है इस बात का निश्चय प्रायः मन्त्रों में आये हुए देवतावाचक पद से भी हो जाता है- अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजम् होतां रत्नधातमम् ॥^{२३}

इसके अतिरिक्त जिन मन्त्रों में देवताओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष उल्लेख नहीं है तथा उनके पहचानने के चिह्न स्पष्ट नहीं हैं उनमें देवता जानने की विधि यह है कि जिस देवता का यज्ञ अथवा यज्ञांग हो उस मन्त्र को उस देवता का समझना चाहिए- यद्देवतः स यज्ञो वायज्ञांगं वा तद्देवता भवन्ति ॥^{२४}

आचार्य यास्क ने इस सम्बन्ध में अनेक मत का उल्लेख किया है।

1. अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः - प्रस्तुत मत याज्ञिकों का है। याज्ञिकों के अनुसार ऐसे मन्त्र जिनका प्रयोग किसी यज्ञ में नहीं होता है तो उस मन्त्र का देवता प्रजापति होता है, क्योंकि जिस प्रकार मंत्रों का विनियोग ज्ञात नहीं होता उसी प्रकार प्रजापति कौन से कार्यों का अधिष्ठाता होता है, ये भी ज्ञात नहीं हैं। इसी समानता से ही याज्ञिकों ने प्रजापति को देवता माना है
2. नाराशंसा इति नैरुक्ताः- नैरुक्तों का मत है कि ऐसे मन्त्र जिनका प्रयोग किसी यज्ञ या यज्ञांग में नहीं होता है उस मन्त्र का देवता नाराशंस होता है। नाराशंस के विषय में भी अनेक मत हैं। कुछ विद्वान यज्ञ को नाराशंस कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ का अर्थ विष्णु कहा गया है। “यज्ञौ वै विष्णु”^{२५} इसलिए इस मन्त्र का देवता विष्णु है।
3. अपि वा सा कामदेवता स्यातः- कुछ विद्वान कहते हैं कि इन मंत्रों में अपनी भावनानुसार देवता मान लेना चाहिए प्रायो देवता वा अस्ति.. प्रायः शब्द बाहुल्य का द्योतक होता है अर्थात् प्रायो का अर्थ अनेक देवता है। इसलिए जिन मन्त्रों में देवताओं को पहचानने का कोई चिह्न न हो उस मन्त्र पर सभी देवताओं का अधिकार होता है।

२०. निरुक्त 7-2

२१. निरुक्त 7-1

२२. ऋक्सर्वानुक्रमणी 2-45

२३. ऋग्वेद 1-1-1

२४. निरुक्त 7-1

२५. शतपथ ब्राह्मण 13-1-8-8

4. याज्ञ दैवतौ मन्त्रः इति:- जिन मन्त्रों में देवता ज्ञान नहीं हो रहा हो वहाँ स्वयं यज्ञ को उस मन्त्र का देवता मानना चाहिए।

अदेवता रूप पदार्थों में देवतत्त्व - पूर्व पक्षियों के द्वारा यह आशंका व्यक्त की गई कि यास्क द्वारा प्रदत्त देवता लक्षण मन्त्रों के देवताओं पर तो घटता है परन्तु उन्हीं में कुछ मन्त्रों में ऐसे पदार्थों की स्तुति की गई है जिन्हें किसी भी कोण से देवता नहीं माना जा सकता है।

उदाहरणार्थ :- दैवतकाण्डके अश्व सेलेकर ओषधि तक के 22 शब्द तथा उलूखल, मूसल आदि आठ जोड़ों वाले शब्दों को लिया जा सकता है। यास्क कहते हैं कोई ये ना समझे कि देवताओं से सम्बद्ध ये उपकरण आदि नश्वर तथा अनित्य हैं। मनुष्य से सम्बद्ध पदार्थ नश्वर तथा अनित्य है ये तो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है, किन्तु देवताओं के पदार्थ इससे भिन्न होते हैं इसलिए वे नित्य हैं।

यहाँ एक आशंका उत्पन्न होती है कि मनुष्य की वस्तुएं जब अनित्य हैं तो देवताओं की वस्तुएं नित्य कैसे हो सकती हैं, इस आशंका का समाधान यास्क मनुष्यों और देवताओं के स्वाभाविक अन्तर के आधार पर करते हैं। उदाहरणार्थ - मनुष्यों में जन्य और जनक निश्चित है किन्तु देवताओं में यह निश्चित नहीं है। कोई भी किसी का भी कार्य और कारण हो सकता है जैसे वरुण प्रातःकालीन अग्निदेव का स्वरूप है परन्तु सायं में मित्र का स्वरूप धारण कर लेते हैं। देवता परस्पर एक दूसरे से ही उत्पन्न भी हो जाते हैं जैसे अदिति से दक्ष और दक्ष से अदिति जबकि मनुष्यों में ये सम्भव नहीं है। मनुष्य का जन्म स्वजातीय से ही होता है जबकि देवताओं का जन्म कर्मानुसार होता है जैसे एक ही आदित्य कभी अश्विनी कभी सविता कभी विष्णु कहलाता है।

यास्क ने एकात्मवाद से इस आशंका का समाधान प्रस्तुत किया है। यास्क के अनुसार परम् देवतत्त्व एक ही है और अन्य देवता उसी के अंग हैं- एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यंगानि भवन्ति।^{२६}

इसीलिए उलूखल-मूसल आदि अचेतन पदार्थ होते हुए भी उनमें देवत्व होता है। इसलिए इन पदार्थों को उस महान आत्मा से अलग नहीं मानना चाहिए। ऋग्वेद में कहा गया है-

“सुवर्ण विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ॥”^{२७}

मनुष्यों के उपकरण भले ही अनित्य हो पर देवताओं के नित्य हैं क्योंकि वे वास्तव में उपकरण न होकर परम् तत्त्व आत्मा के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।

---O---

२६. निरुक्त 7.1

२७. ऋग्वेद 10-114-5

राष्ट्रकवि दिनकर के विचारों की शैक्षिक प्रासंगिकता

डॉ. नितिन कुमार जैन

सहायकाचार्य (शिक्षाविद्याशाखा), केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर, भोपाल

कवि के काव्यजगत में वस्तुतः जीवन ही प्रतिबिंबित होता है। यदि यह सत्य है तो जीवन की धुरी पर चलने वाली शैक्षिक प्रक्रियाएं या शैक्षिक संदर्भ किसी कवि के काव्य-जगत में प्रतिबिंबित ना हो, ऐसा संभव नहीं। एक अर्थ में जब काव्य में जीवन के सुख-दुख, संघर्ष-चिंताएं, आकांक्षाएं, अपेक्षाएं प्रतिबिंबित होती हैं तो यह अन्य अर्थ में जीवन को व्यवहारिक रूप से कैसे जिया जाए या व्यवहारिक रूप से जीवन जीने में क्या परिस्थितियां उपस्थित होती हैं - इसकी शिक्षा काव्य के माध्यम से प्राप्त होती हैं। अतः किसी कवि के काव्य में शैक्षिक संदर्भों की उपस्थिति अत्यंत स्वाभाविक है। केवल आवश्यकता है उस दृष्टि की जो उन काव्यतत्त्वों में शैक्षिक तत्त्वों को खोज निकाले।

किसी कवि का चिन्तन उसकी समग्र चेतना एवं अनुभवदृष्टि का प्रतिफल होता है। किसी कवि की अपने जीवन के प्रति क्या धारणाएं और दृष्टियां क्या हैं? इन्हीं सभी धारणाओं और दृष्टियों का पूरा प्रभाव उसके लेखन पर होता है। साहित्य का अर्थ केवल वर्तमान समाज का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होता, बल्कि वह संपूर्ण विश्वसमाज को दिशा प्रदान भी करता है। शैक्षिक शब्दावलि में कहे तो साहित्य समुचे विश्व को शिक्षित करता है। यदि कवि शिक्षा जगत से भी जुड़ा हो, तथा शिक्षा की समस्याओं और चुनौतियों के देखता एवं समझता है तो उसका साहित्य विशेष रूप से शिक्षा का स्रोत बन जाता है। निश्चित ही इन विशिष्ट कवियों के चिन्तन में शैक्षिक तत्त्वों का मिलना और भी फिर सहज हो जाता है।

ऐसे ही अत्यन्त प्रतिष्ठित साहित्यकार है राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर। यद्यपि किसी विचारक के रूप में थोड़े कम, पर कवि के रूप में दिनकर की ख्याति अधिक प्रसिद्ध है। विशेष रूप से इनकी कविताओं में एक जीवन्तता और औजस्विता की अनुभूति होती है। सदैव बुद्धि और हृदयभावों को झंकृत करने का सामर्थ्य रखने वाले काव्य का प्रणयन करने वाले राष्ट्रकवि ने राष्ट्र की चेतना को जागृत करने का कार्य किया। इनके काव्यों में समकालिकता है। यद्यपि सन्दर्भ प्राचीन भारत के हो सकते हैं, परन्तु काव्यों का हेतु एवं प्रयोजन वर्तमान भारत की परिस्थितियां ही रही। उदाहरण के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलनों के काल में जिस अभिप्रेरणशक्ति की आवश्यकता थी, उसका सञ्चार राष्ट्रकवि ने प्राचीन भारतीय सन्दर्भों के माध्यम से काव्यों में अजस्र रूप से प्रवाहित किया।

जैसे कि प्रो. विजेंद्र नारायण सिंह कहते हैं कि महाकवि और राष्ट्रकवि दिनकर की अनेक प्रसंगों में प्रासंगिकता आज भी है। सिंह की दृष्टि में दिनकर कोमलता और सुंदरता के कवि है और इनके काव्य में कहीं-कहीं एक विशिष्ट व्यक्तित्व झलकता है। हुंकार, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी आदि काव्यों में वस्तुतः कवि का व्यक्तित्व ही स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित हुआ है। यह बात तो स्वयंसिद्ध है कि किसी भी काव्य में या

काव्य में अभिव्यक्त विचारों में कवि का ही व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है। दिनकर के काव्य में जीवन का जो प्रतिबिम्ब झलकता है, उसमें दिव्यजीवन भी है और एक जनसामान्य का जीवन भी।

शिक्षा की अवधारणा- शिक्षा की मूल प्रवृत्ति उद्देश्य के अनुरूप होती है। यही कारण है कि दर्शन एवं किसी भी विचारधारा में उद्देश्यों की चर्चा सर्वप्रथम की जाती है। मूल तथ्य तो यही है कि दर्शन या जीवनदर्शन द्वारा निर्धारित जीवन मूल्य और लक्ष्य शिक्षा के लक्ष्य और उद्देश्य निर्धारित करते हैं। इस अर्थ में शिक्षा का कार्य विचार से आचार तक पहुंचना है। विचार अर्थात् हमारी सारी स्मृतियां, तर्कशक्तियां, भाषागत समझ आदि इन के माध्यम से आचरण तक पहुंचने के लिए शिक्षा अत्यंत जीवन संबद्ध उपाय करती है। निश्चित ही यह आचरण मूल भारतीय परंपरा में मुक्ति के लिए संकल्पित होता है।

इसी आचरण संबद्ध अनिवार्यता को इंगित करते हुए राष्ट्रकवि दिनकर कहते हैं कि (कोई व्यक्ति) शिक्षित हुआ है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उसने कितनी किताब पढ़ी हैं और कितने विचारों से उसका परिचय हुआ है, बल्कि इस बात पर कि जो उसने सीखा है, उसका वह आचरण करता है या नहीं तथा उसके भीतर शक्तियाँ जगी हैं या नहीं, जिन्हें जगाना शिक्षा का उद्देश्य है^१।

साक्षरता से शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि शिक्षा का अर्थ शब्दांकज्ञान अर्थात् साक्षरता से कहीं अधिक आचरण में निहित है। इस दृष्टि से साक्षरता से अधिक ध्यान व्यक्ति के मौलिक विकास पर केंद्रित करना चाहिए। इसी विषय को राष्ट्रकवि दिनकर अपने शब्दों में इस तरह से परिभाषित करते हैं कि भारत में साक्षरता का बहुत अधिक प्रसार कभी नहीं था, फिर भी यहाँ की जनता अज्ञानी नहीं थी और न शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच यहाँ वह दरार थी जो आज देखने में आती है। कारण स्पष्ट है कि जब तक इस देश में शिक्षा का माध्यम देशभाषा थी, तब तक थोड़े लोगों का जो ज्ञान पुस्तकों से प्राप्त होता था, वह संगति के द्वारा फैलकर बहुतों तक पहुँच जाता था।

शिक्षा के मुख्य प्रयोजन- शिक्षा का पहला प्रयोजन है - भाषा दक्षता। इसका कारण है कि भाषा और विचार का अटूट संबन्ध और इस सन्बन्ध का मनुष्य की चेतना पर होने वाला अमोघ प्रभाव, जो अब कई अनुसंधान उसे प्रमाणित हो चुका है। संज्ञानात्मक या परासंज्ञानात्मक रूप से मातृभाषा की दक्षता अत्यंत महत्वपूर्ण है। मातृभाषा विशेष दृष्टि से सर्जनात्मकता, तर्कशीलता, समीक्षात्मक कुशलता आदि पर सकारात्मक प्रभाव डालती है। इन सभी कुशलताओं का विकास मातृभाषा से अधिक सम्बद्ध होता है। यही कारण है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भाषाओं, विशेष रूप से मातृभाषाओं के शिक्षण एवं अधिगम के साथ, मातृभाषाओं के माध्यम से ही शिक्षण पर अधिक बल दिया गया है^२।

इन्हीं विशेष संदर्भों को स्वीकार करते हुए राष्ट्रकवि दिनकर राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रकाशन से बहुत पूर्व यह निरूपित करते हैं कि शिक्षित व्यक्ति की पहली पहचान यह है कि वह अपनी मातृभाषा में

१. रामधारी सिंह दिनकर, चिन्तन के आयाम, पृ. 127

२. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, अध्याय 4.11

व्यवहार एवं विचार करने के लिए दक्ष हो। वह कहते हैं कि अन्य भाषाएँ वह जरूरत के कारण सीखता है, उसके हृदय और प्राण की भाषा उसकी मातृभाषा ही होती है। इस समस्त भूमंडल पर केवल भारत ही वह अभागा देश है, जहाँ शिक्षित हम उस व्यक्ति को समझते हैं, जो अपनी भाषा भले ही न जानता हो, मगर अंग्रेजी में खूब तेज-तर्रार होता है। स्पष्ट ही यह मानसिक दासता का प्रमाण है, जो अभी भी हमारे दिमाग में घर किए हुए है^३।

दिनकर की दृष्टि में शिक्षा का दूसरा प्रयोजन जीवन की सरलता और सहजता है और इन्हीं सभी संदर्भों में विनयशीलता को उन्होंने शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना है। वह कहते हैं कि शिक्षित व्यक्ति की दूसरी पहचान यह है कि वह विनम्र होता है। विनय यानी झुककर जीने का भाव। विद्या ददाति विनयम्। विद्या हमें विनयशील बनाती है। वस्तुतः सीखने की एक अनिवार्य परिस्थिति विनयशीलता है। जीवन के सतत विकास एवं अभ्युदय, तथा जीवन की उदीयमान आवश्यकताओं के अनुरूप सतत सीखने की आवश्यकता इस परिस्थिति को अनिवार्य बनाती है कि हम विनयशील होते हुए उन सभी ज्ञानस्रोतों के प्रति अग्रहणशील रहे, जिससे हम अपनी अतीत-परंपराओं और विरासतों से सीख सकें।

विनय एक उच्च मूल्य है, किन्हीं अर्थों में जीवन का सर्वोच्च मूल्य है। विनयशीलता वह आवश्यक परिस्थिति है जिसके कारण हम ज्ञान के सभी स्रोतों के प्रति, सभी धर्म-दर्शनों के प्रति बौद्धिक रूप से सकारात्मक बने रहते हैं। वस्तुतः शिक्षित व्यक्ति की मुख्य पहचान यही है कि वह सदैव सकारात्मक विचारों को चारों दिशाओं से स्वीकार करता है। शास्त्रोक्त भी है - आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः^४। यह तभी संभव है जब हम विनयशीलता आधारित संस्कृति में अपना जीवन संस्कारित कहते हैं। दिनकर कुछ धार्मिक सन्दर्भों को स्वीकार करते हुये कहते हैं कि (शिक्षित व्यक्ति) स्वभाव से ही अनुशासनप्रिय होता है और विनयशीलता केवल दैहिक आचरण में ही समाप्त नहीं होती, वह मानसिक गुण का भी नाम है। अहिंसा, विनय और संस्कृति, इन्हें परस्पर समानार्थक समझा जाना चाहिए। शारीरिक हिंसा का वर्जन भारत के सभी धर्मों ने सिखाया था, किन्तु जैनधर्म बौद्धिक अहिंसा की भी शिक्षा देता है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद बौद्धिक अहिंसा के ही गुण हैं। कभी भी यह मत समझो कि केवल तुम्हारा ही मत सही है। सम्भव है, विरोधी का मत सही और तुम्हारा सोचना ही गलत निकल जाए^५।

दिनकर ने एक शिक्षित व्यक्ति के विषय में जो भी निरूपित किया है, उससे एक बात अत्यंत स्पष्ट होती है कि चिन्तन वह सर्वोच्च शक्ति है जो शिक्षित एवं अशिक्षित के मध्य स्पष्ट विभेदन करती है। तार्किक चिन्तन से जीवन की आधारभूमि निर्धारित होती है। दिनकर के ही शब्दों में (शिक्षित व्यक्ति) में चिन्तन की शक्ति होती है। सोचने की शक्ति, असल में चीजों पर शंका करने की शक्ति है। शिक्षा का

३. रामधारी सिंह दिनकर, चिन्तन के आयाम, पृ. 128

४. ऋग्वेद, 1.89.1

५. रामधारी सिंह दिनकर, चिन्तन के आयाम, पृ. 129.30

एक बड़ा ध्येय यह है कि वह शिक्षार्थियों के भीतर शंका की प्रवृत्ति को तेज करे। परम्परा और विद्रोह, जीवन के दोनों ही आवश्यक अंग हैं। कल जो विद्रोह था, वह आज की परम्परा है। आज जो विद्रोह है, कल वह परम्परा का रूप लेगा। विद्रोह का जन्म शंका से होता है, निरन्तर परिपाटी के विरुद्ध सोचने की प्रवृत्ति से होता है^६।

यदि दर्शन और विज्ञान के अनुकूल आदर्श बौद्धिक परिस्थितियों पर विचार किया जाए तो चिन्तनशीलता एक उच्च संज्ञानात्मक क्षमता के रूप में अनिवार्य रहेगी। चिन्तनशक्ति के ही अलग-अलग रूप साहित्य, दर्शन, विज्ञान के क्षेत्र में दिखायी देते हैं। शिक्षित व्यक्ति की एक महत्वपूर्ण भूमिका अपने समाज एवं आने वाली पीढ़ियों के लिए शिक्षा और ज्ञान का स्रोत हो जाना भी है। यह तभी संभव है जब शिक्षित व्यक्ति चिन्तन के माध्यम से अपनी जीवन परिस्थितियों के विषय में अधिक से अधिक संवेदनशील होता है।

शिक्षित व्यक्ति वर्तमान जीवन-दर्शन एवं विचार-दर्शन से, स्थापित एवं प्रतिष्ठित परंपराओं से ऊपर आलोचानात्मक चिन्तन से नव परम्पराओं को स्थापित करता है। यह परम्पराएं पूर्ण रूप से एकदम नई नहीं होती, बल्कि अतीत की बौद्धिक विरासतों को नई समझ के साथ नए रूपों में प्रस्तुत करती है। वर्तमान समयानुकूल बौद्धिक विरासतों और बौद्धिक परंपराओं के हस्तांतरण की परिस्थितियों के विषय में विचार किया जाए तो यह ज्ञात होता है कि शिक्षा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रयोजन चिन्तनशीलता को विकसित करना है।

एक निश्चित सीमा तक सीखना जीवन की प्रवृत्ति नहीं है। शास्त्रोक्त भी है - **यावज्जीवमधीते विप्रः^७**। हमारी भारतीय मनीषा भी यह कहती है कि सतत सीखना ही जीवन की सहज प्रक्रिया है और इसका कारण अत्यंत स्पष्ट है कि जीवन प्रवाह में एकरेखीयता नहीं होती। कभी भी जीवन की जटिलताएं और समस्याएं तथा समय समय पर उपस्थित आवश्यकताएं एवं अपेक्षाएं जीवन व्यवहारों में समायोजन और परिपक्वता की मांग करती हैं। परिवर्तनशील परिस्थितियों के प्रभावी एवं सशक्त रूप से टिके रहना तभी संभव है, जब हम अपने जीवन के प्रभाव को सजगता से अवलोकन या अनुभव करते हैं। जैसा कि जे. कृष्णमूर्ति शिक्षा की एकमात्र विधि के रूप में निरूपित करते हैं। जब तक हम जीवन के प्रति संवेदनशील नहीं होंगे, हम सीखने के लिए योग्य नहीं बनते। वस्तुतः जे. कृष्णमूर्ति के विचार-दर्शन में यही सीखते रहने का रहस्य है^८। सार रूप में जीवन की प्रथम मांग यही है कि लगातार सीखते रहना। अन्य शब्दों में लगातार अपने विचारों और व्यवहारों में गुणात्मक परिवर्तन करते रहना।

जीवन पर्यंत या सतत सीखते रहने के अत्यंत व्यापक संदर्भों में राष्ट्रकवि दिनकर भी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि शिक्षित व्यक्ति की चौथी पहचान यह होती है कि उसका मस्तिष्क सतत विकासशील होता

६. रामधारी सिंह दिनकर, चिन्तन के आयाम, पृ. 129-30

७. अष्टाध्यायी, भाषावृत्तिः, 3-4-31.

८. जे. कृष्णमूर्ति, शिक्षा क्या है?, पृ. 11

है। मनुष्यों में भी वे मनुष्य सच्चे अर्थों में सुशिक्षित होते हैं, जो यह नहीं मानते कि विश्वविद्यालय छोड़ने के साथ उनकी शिक्षा समाप्त हो गई। जिन शक्तियों को जगाने के लिए छात्र विश्वविद्यालयों में आते हैं, उन शक्तियों की सम्भावनाएँ अपरिमित और निस्सीम हैं। विश्वविद्यालयों में वे जग तो जाती हैं मगर उनका विकास सारे जीवन भर होता रहता है।^९

वस्तुतः देखा जाए तो शिक्षा प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती। शिक्षा को हम विद्यालय या विश्वविद्यालय की परिधि तक सीमित नहीं कर सकते। उसका विस्तार अनंत है, क्योंकि मनुष्य का जीवन अनन्त आयामी है। किसी व्यक्ति के विचारशील होने के समतुल्य कर्मशील होना भी अत्यंत अनिवार्य है। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई भी प्राणी प्रतिक्षण कर्मशील रहता है - **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ १०** कर्मशीलता किसी भी प्राणी का एक अनिवार्य गुणधर्म है। सक्रियता, कर्मशीलता या कर्मण्यता को एक गुणात्मक परिवर्तन या उद्देश्य के रूप में से देखा जाना चाहिए। दिनकर इन्हीं सन्दर्भों में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि शिक्षित व्यक्ति का महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि वह आलसी नहीं होता और अपने हर काम को मुस्तैदी के साथ और ठीक समय पर अंजाम देता है। किताबों से ज्ञान ग्रहण कर लेना काफी नहीं है। चिन्तन, वचन अथवा कर्म के क्षेत्र में आदमी को अपने ज्ञान का उपयोग कर्म के रूप में करना चाहिए। कर्म की वह कसौटी है, जिस पर ज्ञान की परख की जाती है^{११}।

दिनकर कर्म की शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। उनकी दृष्टि में कर्म शिक्षा जीवन की व्यावहारिक शिक्षा है या व्यवहारिक जीवन की शिक्षा है। कर्म या दायित्व की शिक्षा का आधार यह है कि कैसे हम जीवन को व्यवहारिक रूप में जी सकते हैं। जीवन की वास्तविक समझ किसी पलायन या अकर्मण्यता से परे जीवन-संस्कृति और अभिव्यक्ति में निहित है। हमें यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा का एक निश्चित आयाम नहीं हो सकता है। शिक्षा शरीर, मन और बुद्धि - इन सभी के उत्कर्ष के लिए समग्र रूप से प्रयत्न जाती है। दिनकर एक विषय को इस दृष्टि में उपस्थित कर अपनी बात को स्पष्ट करते हैं कि गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा का प्रयोग किया था, जिसमें शिक्षा कर्म के द्वारा दी जाती है। ज्ञान कर्म से श्रेष्ठ है और सबसे अच्छे लोग वे हैं, जिन्हें हाथों से कोई काम नहीं करना पड़ता, इस विचार ने सभ्यता का उपकार नहीं किया है। वैदिक युग में ज्ञान और कर्म के बीच ऐसा विभेद नहीं था। ऋषि खेती भी करते थे, पशु भी पालते थे, समाधि और ध्यान भी करते थे, शास्त्र भी रचते थे और अवसर आने पर तलवार उठाकर युद्ध में भी दौड़ पड़ते थे^{१२}।

९. रामधारी सिंह दिनकर, चिन्तन के आयाम, पृ. 131

१०. श्रीमद्भागवतगीता, 3.5

११. रामधारी सिंह दिनकर, चिन्तन के आयाम, पृ. 132

१२. उपर्युक्त, पृ. 134

शिक्षा का माध्यम- राष्ट्रीय शिक्षा नीति किसी अर्थ में राष्ट्रीय भाषा नीति है। भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम के रूप में स्वीकृति संज्ञानात्मक एवं भावात्मक रूप से अतिमहत्त्वपूर्ण परिवर्तन है, जिसकी अपेक्षा स्वतंत्रता के बाद से ही की जाती रही थी। किन्हीं अर्थों में मातृभाषा और भारतीय भाषाओं की स्वीकृति का प्रभाव संज्ञानात्मक और भावात्मक विकास से अधिक मनुष्य की चेतना के स्तर पर अधिक है। कारण, प्रत्येक व्यक्ति की चेतना मौलिक रूप से विशिष्ट होती है। शायद यही कारण है कि चेतना की मौलिकता से नव सर्जनों को अवसर मिलता है। वैज्ञानिक आविष्कारों, साहित्यिक रचनाओं, दार्शनिक सिद्धान्त निरूपणों से लेकर पर्यावरण एवं समाज की जटिल/दुरूह समस्याओं के समाधान हेतु दृष्टिओं में ये नवसर्जन अभिव्यक्त होते हैं।

वैज्ञानिक आविष्कारों और साहित्यिक रचनाओं के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि मातृभाषा का महत्त्व शिक्षा के क्षेत्र में मौलिकता को जन्म देता है, जो अन्यभाषा द्वारा विकसित परिवेश में संभव नहीं है। दिनकर ने भी अपनी रचनाओं में यह स्पष्ट किया है कि मातृभाषा हमारे शिक्षण का माध्यम होना चाहिए। कारण, यह एक विशेष प्रकार की संज्ञानात्मक और रचनात्मक स्वतंत्रता को जन्म देती है। इन विषयों को लेकर दिनकर ने कहा है कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण हम किसी भी विषय पर आत्मविश्वास के साथ नहीं बोल सकते थे और मन में बराबर यह हीनभावना बनी थी कि हमारी अंग्रेजी कमजोर है। जब शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो गया, उसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि आकर्षण का मूल केन्द्र भारत से बाहर चला गया^{१३}।

राष्ट्रकवि दिनकर आगे लिखते हैं कि एक तो नुकसानी यह हुई कि अंग्रेजी के शिक्षा का माध्यम हो जाने के कारण ज्यादा लोग शिक्षित न किए जा सके। दूसरी नुकसानी यह हुई कि जो लोग असाधारण मेधा से युक्त, तेजस्वी व्यक्ति थे, उनके भी विचार जनसाधारण के बीच नहीं फैल सके, क्योंकि विद्वानों की भाषा और तथा जनसाधारण की भाषा और थी। एक तीसरी नुकसानी भी यह हुई कि जिनमें सचमुच मेधा का प्राबल्य था, उनकी भी अधिक शक्ति अंग्रेजी के शीन-काफ को दुरुस्त करने में चली गई और वे विचारों पर उतना अधिक आधिपत्य नहीं पा सके, जितना आधिपत्य वे अपनी भाषा द्वारा ज्ञानार्जन करने पर पा सकते थे^{१४}।

शैक्षिक परिप्रेक्ष्यों में शिक्षण-माध्यम के रूप में भाषा को चुनना सदैव एक गंभीर समस्या रही है। किस स्तर पर किस विषय के लिए या पाठ्यक्रम के लिए क्या माध्यम हो? इस पर मनोवैज्ञानिक समझ से विचार नहीं किया गया। यही वह कारण है कि मातृ-भाषाओं को शिक्षण के माध्यम से बहुत दूर रखा गया। मनोवैज्ञानिक रूप से शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए तत्पर राष्ट्रीय और राज्यस्तरीय समितियों एवं आयोगों ने ये विचार तो प्रस्तुत किये कि मातृभाषा की अनिवार्यता शिक्षण और अधिगम

१३. उपर्युक्त, पृ. 136

१४. उपर्युक्त, पृ. 127

की दृष्टि से कितनी महत्वपूर्ण है। पर व्यावहारिकता में भारतीय भाषाओं को द्वितीय श्रेणी पर रखते हुए अंग्रेजी भाषा को अधिक महत्त्व दिया गया। उन विद्यालय संस्थाओं को अधिक से प्रभावी समझा गया, जो भारतीय भाषेतर भाषाओं को शिक्षणाधिगम में प्रमुख स्थान देती हैं। चाहे माध्यम के रूप में या पाठ्यक्रम-शिक्षण के रूप में। इन परिस्थितियों में शिक्षा का उद्देश्य प्राप्त नहीं हो पाता के लिए समस्त प्रयास किए जाते हैं।

उपसंहार- राष्ट्रकवि दिनकर ने भारत की तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की आलोचना भी की है। इन आलोचनाओं का अध्ययन से लगता है कि ये आलोचनाएं वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के विषय में भी अत्यन्त प्रासंगिक हैं। शिक्षापद्धतियों की एकरूपता और केवल जीवन के सीमित लक्ष्यों पर केंद्रित वर्तमान शिक्षा व्यवस्था परिपूर्ण मानव का निर्माण नहीं करती है। विषयों में भी परस्पर विभागीकरण। शिक्षा व्यवस्था की अपूर्णता को सूचित करता है। कुछ आलोचना इतनी महत्वपूर्ण है, जिनका सीधा संबंध या निहितार्थ हम राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में देख सकते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति अंतर्विषयात्मक उपागम से अध्ययन और अनुसंधान पर बल देती है, जिसमें विभिन्न विषयों के मध्य पारस्परिक अंतर्संवाद पर बल दिया जाता है।^{१५} इसी अंशों को लेकर दिनकर ने बहुत पूर्व वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की आलोचना की। वर्तमान में पाठ्यक्रम और पाठ्यचर्या में विषयों का परस्पर विभेदन और इनके मध्य खाई देखी जा सकती है। इसका परिणाम ये निकलता है कि एक व्यक्ति अन्य शास्त्र से बिल्कुल भिन्न दृष्टि रखता है, जो समग्र दृष्टि से उचित नहीं है।

दिनकर लिखते हैं कि वर्तमान शिक्षापद्धति का दोष यह है कि उसका सारा ध्यान विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ तैयार करने पर केन्द्रित है। अब हम ऐसी दुनिया में रहने लगे हैं, जिसमें वैद्य ज्योतिषी नहीं होते, न इंजीनियरों को औषधि-विज्ञान का ज्ञान होता है। सभ्यता का सही नेतृत्व वे लोग नहीं कर सकते, जो विशेषज्ञ अथवा एकांगी विद्वान हैं। निष्कर्ष के रूप में शिक्षा को समग्र होना चाहिए और शिक्षा को समग्र व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए उत्तरदायी होना चाहिए। इस समग्रता में जीवन के समग्र अंशों को समाहार होना चाहिए। शिक्षा प्रक्रिया का केन्द्र बिंदू यह समग्रता ही होनी चाहिए। इसी विषय को लेकर दिनकर कहते हैं कि शिक्षा की सर्वांगीण महिमा को स्वीकार करते हुए भी यह नहीं भूलना चाहिए कि मानवता के कुछ गुण ऐसे भी हैं, जिन्हें प्राप्त करने के लिए पाण्डित्य की तनिक भी आवश्यकता नहीं।

---O---

राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में समानता और समावेशन

डॉ. सुमन प्रसाद भट्ट

सहायक आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

किरन

शोधार्थी, शिक्षाशास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शिक्षा एक ऐसा सशक्त माध्यम है, जिसके द्वारा हम सामाजिक न्याय एवं सामाजिक समानता को प्राप्त करने के महत्वपूर्ण लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं। यह एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा हम एक ऐसे समाज का निर्माण कर सकते हैं जो समानता के संप्रत्यय को स्थापित और अंगीकृत कर सके। समावेश युक्त समानता की इस नींव को सफल बनाने का कार्य राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में किया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 को भारत के केंद्रीय मंत्रीमंडल द्वारा 29 जुलाई, 2020 को मंजूरी दी गयी थी। इस नीति में स्कूली शिक्षा व उच्च शिक्षा में कुछ महत्वपूर्ण बदलाव किए गए हैं जिसमें से समावेशी एवं समता मूलक शिक्षा एक महत्वपूर्ण मुद्दा बनकर समाज के सामने प्रस्तुत हुआ है।^१ सभी व्यक्तियों तक शिक्षा की पहुंच, शिक्षा में सभी की सहभागिता, शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को हर सामाजिक वर्ग के बीच में पहुंचाना और सभी विद्यार्थियों को शिक्षा की मुख्य धारा से जोड़ना इस नीति के मुख्य उद्देश्य हैं।

समावेशी शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 एक अभूतपूर्व दस्तावेज है जो यह सुनिश्चित करता है कि विशिष्ट विद्यार्थियों को सामान्य विद्यालयों में शिक्षा प्रदान की जा सकती है। किन्तु आज भी हमारे समाज में यह धारणा व्याप्त है कि विशिष्ट विद्यार्थियों को सामान्य विद्यार्थियों से अलग रखकर ही शिक्षा प्रदान की जाए। वस्तुतः समानता और समावेशन के क्षेत्र में यही एक बहुत बड़ी चुनौती है। इस चुनौती का समाधान केवल सरकार के स्तर से ही नहीं हो सकता बल्कि इसके लिए हमारे विद्यालयों, हमारे शिक्षकों एवं अभिभावकों के साथ-साथ समाज को भी तैयार करना आवश्यक है। विभिन्न आवश्यकताओं वाले बच्चों को सामान्य बच्चों के साथ शिक्षा प्रदान करना ही समावेशी शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य है जिसे प्राप्त करने में दृढ़ सामाजिक इच्छाशक्ति के साथ ही समाज के सभी वर्गों का योगदान भी अपेक्षित है। इस शोधपत्र में राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में समानता और समावेशन के विभिन्न पहलुओं पर गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

शिक्षा के क्षेत्र में भारत निरंतर प्रगतिशील है परंतु आज भी यह देखा जा रहा है कि शिक्षा के क्षेत्र में अभी भी हमारी पहुंच दूर है। विशेष कर माध्यमिक स्तर पर हम आर्थिक एवं सामाजिक रूप से वंचित समूह को उनके अनुरूप शिक्षा नहीं दे पा रहे हैं। इस वर्ग के विद्यार्थी शिक्षा के क्षेत्र में पूर्व से ही

१. Government of India, National Education Policy 2020, Ministry of Education, New Delhi, 2020, p. 25.

वंचित रहे हैं और आज भी हम अपने समाज में यह देख कर अनुभव कर रहे हैं कि इन विद्यार्थियों पर ध्यान आकर्षित करने की महती आवश्यकता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में सामाजिक एवं आर्थिक रूप से वंचित समूहों में अल्पसंख्यक वर्ग, महिला, अनुसूचित जनजाति व अनुसूचित जाति, ट्रांसजेंडर, दिव्यांग बालक, आदिवासी तथा अन्य पिछड़ा वर्ग के सभी विद्यार्थियों को शिक्षा की मुख्य धारा से जोड़ने के लिए प्रयास किया गया है।^२ दिव्यांग विद्यार्थियों को सामान्य विद्यार्थियों की तरह समान भागीदारी का अवसर प्रदान करने को प्राथमिकता दी गई है। इन सभी वर्गों के विद्यार्थियों के प्राथमिक स्तर से लेकर माध्यमिक स्तर तथा उच्च स्तरीय शोध कार्यों में भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में कार्य किया गया है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है।

यूनेस्को द्वारा 1994 में स्पेन के Salamanca शहर में एक सम्मेलन हुआ जो Access quality पर आयोजित किया गया था इस सम्मेलन में Salamanca का Statement “Framework for action on special needs education” को प्रस्तुत किया गया था^३ जिसने समावेशी शिक्षा को विशेष स्तर पर पहुंचने की दिशा दिखाई और यह माना था कि प्रत्येक बच्चे को शिक्षा का मौलिक अधिकार है, चाहे उसने किसी भी विशेषता के साथ जन्म लिया हो, चाहे वह शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, भाषा या किसी भी अन्य प्रकार की विशेष आवश्यकता वाले हों, उन्हें भी सामान्य विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के साथ समान रूप से पढ़ने का अवसर मिलना चाहिए। उनका मत था कि विद्यालय को बच्चों के अनुरूप बदलना चाहिए न कि विद्यार्थी को। समावेशी शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाए, विद्यालय को विशेष सहायता एवं सुविधा सुनिश्चित कराई जाए। इसमें सबसे महत्वपूर्ण योगदान अभिभावकों का है इसलिए अभिभावकों को भी इस योजना से जोड़ा गया था। Salamanca Statement का प्रमुख सिद्धांत यह था कि जहां तक संभव हो सभी बच्चे एक साथ शिक्षा प्राप्त कर सकें।

2008 में यूनेस्को और संयुक्त राष्ट्र स्तर पर Inclusive education को बढ़ावा देते हुए एक विचार यह मजबूत किया गया कि प्रत्येक शिक्षार्थी सम्मान महत्व रखता है, इसलिए उसकी आकांक्षाओं को पूरा करने का दायित्व सरकार का है। अतः Inclusive education को मानव अधिकार और

२. Government of India, National Education Policy 2020, Ministry of Education, New Delhi, 2020, para 6.2, p. 26.

३. UNESCO, The Salamanca Statement and Framework for Action on Special Needs Education, Salamanca, Spain, 1994, p. viii.

सामाजिक न्याय का आधार माना गया।^४ इसके अनुसार शिक्षा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें किसी भी बच्चे की दिव्यांगता, लिंग, जाति, धर्म, समुदाय या अन्य ऐसी कोई भी स्थिति जो उसकी शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित करे उसका निवारण करने प्रयत्न किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम 2016 के मापदंडों के अनुरूप सुसंगत व्यवस्था दी गयी है। जैसे - दिव्यांग बच्चों के लिए सामान्य विद्यालयों में वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना, विद्यालय परिसर में छात्रावास की सुविधा प्रदान करना और इसी के साथ-साथ अन्य सभी व्यवस्थाएं करना आवश्यक है। विशेष रूप से प्रशिक्षित शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की नियुक्ति करना और एक बेहतर विद्यालय व्यवस्था सृजित करना जिसमें उनके अनुरूप वे सभी सुविधाएं हों, जो उन्हें उनके लक्ष्य को प्राप्त करने में उनकी सहायता करे। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में स्कूली स्तर पर कुछ शर्तों के साथ होम स्कूलिंग की बात भी कही गई है।^५ उसी के साथ-साथ सामान्य बच्चों की तरह दिव्यांग विद्यार्थियों को भी समान अवसर प्रदान करने का प्रावधान किया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में स्कूलों में आर्थिक व सामाजिक रूप से वंचित वर्ग के विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क बोर्डिंग सुविधाओं का निर्माण किया जाना तय किया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में सामाजिक आर्थिक रूप से वंचित वर्गों के लिए छात्रवृत्ति का भी प्रावधान किया है। इसी के साथ-साथ पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं जैसी पठन सामग्री व अन्य शिक्षण सामग्री समय-समय पर इन विद्यार्थियों को निःशुल्क उपलब्ध कराई जाए। ऐसे विद्यार्थी जो किसी दिव्यांगता से ग्रसित हैं, उनके अनुरूप शिक्षण कार्य किया जाए। शिक्षक, प्रधानाचार्य, प्रबंधक और अन्य वे सभी व्यक्ति जो विद्यालय वातावरण में किसी न किसी रूप में उनसे जुड़े हैं, वह उनके प्रति संवेदनशील रहें और इसके लिए जरूरी यह है कि हम समाज को जागरूक करें। समाज में एक जन आंदोलन करें जिसमें इन सभी व्यक्तियों को सम्मान के साथ अपनाया जाए, क्योंकि ये भी अन्य व्यक्तियों की तरह इस समाज का अभिन्न अंग हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 के अध्याय 6 एवं अध्याय 14 में समावेशी एवं समता मूलक शिक्षा के मुद्दों पर चर्चा की गई है जिससे भारत में सामाजिक एकरूपता का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत होता है।^६

हमारी भारतीय शिक्षा प्रणाली और सरकार की नीतियां मिलकर विद्यालय स्तर पर तथा उच्च स्तर पर अपना-अपना कार्य कर रही हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एक मील का पत्थर साबित हो

-
४. Government of India, National Education Policy 2020, Ministry of Education, New Delhi, 2020, p. 4.
 ५. Government of India, National Education Policy 2020, Ministry of Education, New Delhi, 2020, para6.12,p.27.
 ६. Government of India, National Education Policy 2020, Ministry of Education, New Delhi, 2020, Chapter 6, pp. 25–30.
-

सकती है यदि इसका कार्यान्वयन समुचित रूप से किया जाए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में यह विशेष रूप से ध्यान दिया गया है कि भारत में किसी भी बच्चे को सीखने और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि, आर्थिक परिस्थिति तथा शारीरिक बनावट किसी भी तरह की जैविक उत्पत्ति बाधक न बने। इस शिक्षा नीति का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में आने वाली सभी समस्याओं का निवारण करके सब विद्यार्थियों को शिक्षा की मुख्य धारा से जोड़ना है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में थर्ड जेंडर की शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया गया है जो एक अच्छी पहल है।^७

समानता की ओर एक नया कदम बढ़ाते हुए नई शिक्षा नीति में थर्ड जेंडर की शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति का प्रावधान व उनके लिए छात्रावास की सुविधा सहित अन्य सभी सुविधायें देने का प्रावधान है। समावेशी शिक्षा में हर तरह के विद्यार्थियों को रखा गया है इसमें सामान्य बालक, विशिष्ट बालक प्रतिभाशाली बालक व समाज के पिछड़े वर्ग, महिलाएं, ट्रांसजेंडर वर्ग के वे लोग जो किसी कारणवश शिक्षा की मुख्य धारा से नहीं जुड़ पाए हैं, उन सभी विद्यार्थियों को जोड़ने का काम राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में किया गया है।

वस्तुतः समावेशी शिक्षा पृथक्करण के प्रत्यय के विपरीत थी। समावेशी शिक्षा सभी विद्यार्थियों को एक विद्यालय में समावेशन करने के पक्ष में थी चाहे वह विद्यार्थी पिछड़े वर्ग का हो चाहे उनकी सामाजिक व सांस्कृतिक पहचान भिन्न हो चाहे वह बालक विशिष्ट हो प्रतिभाशाली हो यहां तक की राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में ट्रांसजेंडर की शिक्षा पर भी प्रमुख रूप से बल दिया गया है जो कि समानता की दृष्टि से एक नए भारत की शुरुआत करती है। जहां ट्रांसजेंडर को किसी भी सामाजिक पृष्ठभूमि में सम्मिलित नहीं किया जाता था वहीं भारतीय न्यायपालिका द्वारा उनको थर्ड जेंडर का दर्जा मिला और इसी के साथ उन्हें भी समाज में उसी नजर से देखा जाने लगा जिस नजर से हम एक महिला व पुरुष को देखते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति में ट्रांसजेंडर की शिक्षा पर चर्चा की गई है उनको छात्रावास की सुविधा के साथ शिक्षा प्रदान करना, उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हें सहयोग प्रदान करना तथा उनको समय - समय पर अभिप्रेरित करते रहना इन सभी मुद्दों पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति- 2020 में चर्चा की गई है जो अध्याय 6 से 14 में सम्मिलित है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 समानता की नीति है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति- 2020 का लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि ऐसा कोई भी बालक अपने जन्म या अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि से जुड़ी किसी भी परिस्थिति के कारण ज्ञान को एकत्र करने या कुछ नया सीखने और जो वह बनना चाहता है इसके लक्ष्य को प्राप्त करने में किसी भी तरह की बाधा का उसको सामना न करना पड़े। उसे वह सभी अवसर प्रदान करना हमारी नैतिक जिम्मेदारी है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में समावेशी शिक्षा के लिए विभिन्न प्रावधान

७. Government of India, National Education Policy 2020, Ministry of Education, New Delhi, 2020, p. 34.

सामाजिक एवं आर्थिक रूप से वंचित समूह के लिए समावेश - राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यक वर्ग, बालिकाएं दिव्यांग छात्राएं, ग्रामीण एवं ऐसे आदिवासी इलाके जहां पर शिक्षा अभी तक पहुंच नहीं पाई है उन स्थानों तक स्थान शिक्षा को पहुंचाना समावेशी शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित किया गया।^८

जेंडर इंकलूजन फंड की उपलब्धता - राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में बालिकाओं की शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए जेंडर इंकलूजन फंड की योजना बनाई गई है जिसके तहत उन बालिकाओं को आर्थिक रूप से सहायता दी जाएगी जो अपनी आर्थिक स्थिति के कारण शिक्षा नहीं ले पा रही हैं। जेंडर इंकलूजन फंड आर्थिक रूप से उन बालिकाओं के लिए एक सुलभ मार्ग है जिसके द्वारा वह शिक्षा की मुख्य धारा से जुड़ सकती हैं यह बालिकाएं हर वर्ग से हो सकती हैं चाहे वह अल्पसंख्यक हों अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति, आदिवासी समुदाय या दिव्यांग बालिकाएं हों, सभी इस सुविधा का लाभ ले सकती हैं।^९

विशेष शिक्षा क्षेत्र की स्थापना - राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में समावेशी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए पिछड़े क्षेत्रों में शिक्षा के स्तरों में सुधार करने का प्रयास किया गया है, जो यह दर्शाता है कि जिन क्षेत्रों में अभी तक शिक्षा नहीं पहुंच पाई है उन क्षेत्रों में हम शिक्षा का प्रचार प्रसार कर सकें ताकि भविष्य में कोई भी छात्र-छात्राएं शिक्षा की मुख्य धारा से जुड़ने से वंचित न रह सकें इसलिए सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में विशेष शिक्षा क्षेत्र की स्थापना की है जहां पर मुख्यतः पिछड़े क्षेत्रों में शिक्षा का स्तर उच्च करने के लिए कार्य किया जा रहा है।^{१०}

दिव्यांग विद्यार्थियों के लिए शिक्षा का प्रयास - राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में दिव्यांग विद्यार्थियों के लिए सामान्य विद्यालयों में जहां पर वह सामान्य विद्यार्थियों व प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के साथ एक ही कक्षा वातावरण में समावेशित रूप से शिक्षा प्रदान करने का प्रावधान किया गया है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि दिव्यांग विद्यार्थियों का नियमित विद्यालयों में समावेश करने का प्रयास राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 द्वारा किया गया है। इन कक्षाओं में दिव्यांग विद्यार्थियों के अनुरूप सहायक उपकरण उपलब्ध कराने का प्रावधान सरकार द्वारा व विद्यालय द्वारा किया जाना अनिवार्य है। उनके अनुरूप विशेष शिक्षकों की नियुक्ति करना सरकार व विद्यालय की जिम्मेदारी है। किसी भी विद्यार्थी को उसकी व्यक्तिगत दिव्यांगता के कारण विद्यालय उसका नामांकन लेने से मना नहीं कर सकता है क्योंकि हर विद्यार्थी को यह अधिकार है कि वह सामान्य विद्यालय में रहकर अपनी शिक्षा को पूर्ण कर सके।

८. Government of India, National Education Policy 2020, Ministry of Education, New Delhi, 2020, p. 4.

९. Ibid., p. 27.

१०. Ibid., p. 28.

वस्तुतः राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 समावेशन की बात करती है जो पृथक्करण की भावना का निषेध करती है।^{११}

मातृभाषा में शिक्षा का समावेश - राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 प्राथमिक स्तर पर विद्यार्थियों की शिक्षा को उनकी अपनी मातृभाषा में दिए जाने का प्रावधान करती है। यह इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि प्राथमिक स्तर पर विद्यार्थियों को उनकी लोकल लैंग्वेज में अध्ययन कराए जाने से उन्हें किसी भी तरह की भाषाई बाधा का सामना न करना पड़े।^{१२}

ट्रांसजेंडर वर्ग की शिक्षा पर ध्यान आकर्षित करना - राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में ट्रांसजेंडर वर्ग के लिए भी शिक्षा का प्रावधान किया गया है क्योंकि कहीं ना कहीं यह देखा जाता है कि हम इस वर्ग को अनदेखा कर रहे हैं। हमें चाहिए कि हमें इस वर्ग के लिए भी कार्य करना आरम्भ करें। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में ट्रांसजेंडर एजुकेशन पर बढ़ावा दिया गया है जिसे हम एक अभिप्रेरणा के रूप में देख सकते हैं। इस नीति में ट्रांसजेंडर वर्ग के लिए अलग से छात्रावास, अनुदान तथा अलग से शौचालय की सुविधा प्रदान करने का प्रावधान किया गया है।^{१३}

होम स्कूलिंग की अवधारणा - राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में समावेशी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए होम स्कूलिंग की बात की गई है जो कि कुछ शर्तों पर आधारित है। होम स्कूलिंग की अवधारणा यह कहती है कि अगर कोई विद्यार्थी किसी असुविधा के चलते विद्यालय तक नहीं पहुंच पा रहा है तो यह प्रावधान है कि विद्यालय विद्यार्थी तक पहुंचे, इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी विद्यार्थी किसी भी तरह की बाधा के चलते शिक्षा से वंचित न रह जाए। वस्तुतः यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 का महत्वपूर्ण लक्ष्य है।^{१४}

डिजिटल शिक्षा - राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में समावेशी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए डिजिटल शिक्षा की अवधारणा को रेखांकित किया गया है। अब हमारे विद्यालय की कक्षाओं में अध्यापकों द्वारा डिजिटल सहायक सामग्री द्वारा अध्यापन कराया जाएगा। डिजिटल शिक्षा दूरस्थ शिक्षा में भी सहायक सिद्ध होगी। जिन स्थानों पर अध्यापकों की उपलब्धता नहीं है वहां पर डिजिटल उपकरणों द्वारा अधिसंख्य विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की जा सकती है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि डिजिटल शिक्षा दिव्यांग विद्यार्थियों के लिए भी सहायक साबित होगी। वर्तमान में दिव्यांग विद्यार्थियों के अनुरूप कई तरह की सहायक सामग्रियां उपलब्ध हैं जो उनके अधिगम उद्देश्यों को पूर्ण करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हो रही हैं।^{१५}

११. Ibid., pp. 29-30.

१२. Ibid., p. 31.

१३. Ibid., p. 34.

१४. Ibid., para6.12,p.27.

१५. Ibid., p. 33.

बहुभाषिक शिक्षा का आयोजन - राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 द्वारा समावेशी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए बहुभाषिक शिक्षा का वातावरण तैयार किया गया है। अब विद्यार्थियों को केवल एक ही भाषा का ज्ञान नहीं कराया जाएगा। प्राथमिक स्तर पर उनकी मातृभाषा के द्वारा शिक्षण होगा तथा जैसे-जैसे वे उच्च कक्षाओं में प्रवेश करेंगे उन्हें बहुभाषिक शिक्षण प्रदान किया जाएगा। उदाहरण स्वरूप उत्तराखंड का विद्यार्थी प्राथमिक स्तर पर गढ़वाली भाषा का प्रयोग कर शिक्षा ग्रहण करेगा एवं अन्य राज्यों के विद्यार्थी भी अपनी-अपनी लोकल लैंग्वेज में अध्ययन करेंगे। आगे चलकर विद्यार्थी को मातृभाषा के अलावा अन्य भाषाओं का भी ज्ञान कराया जाएगा जैसे अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाएं।^{१६}

राष्ट्रीय शिक्षा नीति में समावेशी शिक्षा के मुख्य बिंदु -

1. प्रत्येक विद्यार्थियों की उत्कृष्ट क्षमताओं की पहचान और उन्हें बढ़ावा देने के लिए शिक्षकों और अभिभावकों को संवेदनशील बनाया जाना।
2. सभी शैक्षणिक निर्णय में पूर्ण रूप से सामान्य और समावेश पर निगरानी रखी जाए ताकि छात्रों का अपेक्षित विकास सुनिश्चित हो सके।
3. आर्थिक व सामाजिक रूप से वंचित वर्गों की शिक्षा पर विशेष ध्यान केंद्रित करना। इन वर्गों में महिला, ट्रांसजेंडर, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यक, अन्य पिछड़ा वर्ग, आदिवासी समुदायों एवं दिव्यांग बच्चों को समान अवसर प्रदान करने के सक्षम तंत्र बनाना।
4. सामाजिक व आर्थिक तौर पर पिछड़े वर्गों के लिए, जहां पर अधिक आबादी वाले क्षेत्र हैं वहां पर विशिष्ट केन्द्रों का निर्माण किया जाए।
5. बालिकाओं तथा ट्रांसजेंडर बच्चों की शिक्षा हेतु जेंडर इंकलूजन निधि फंड का प्रावधान किया जाएगा।
6. सामाजिक आर्थिक तौर पर पिछड़े वर्गों की समस्याओं के समाधान हेतु समावेशन निधि योजनाओं को और अधिक विकसित किया जाएगा।
7. उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए आर्थिक व सामाजिक रूप से वंचित वर्गों के मेधावी छात्रों के लिए वित्तीय सहायता प्रदान की जाएगी।
8. नीतियों और योजनाओं को बढ़ावा देने के लिए छात्रवृत्ति और इसी के साथ-साथ बच्चों के माता-पिता को प्रोत्साहित किया जाएगा।
9. सभी दिव्यांग बच्चों के लिए मुक्त शिक्षा सुनिश्चित करना। सहायक उपकरण युक्त प्रौद्योगिकी तथा भाषा और पठन-पाठन सामग्री को तैयार कर उपलब्ध कराना।
10. दिव्यांग बच्चों के लिए नियमित विशेष स्कूली शिक्षा और गृह आधारित शिक्षा के विकल्प चयन करने का विकल्प प्रदान करना।
11. विशिष्ट विद्यार्थियों के लिए स्कूल तक आने-जाने के लिए यातायात के साधन उपलब्ध कराना।

१६. Ibid., pp. 31-32

निष्कर्ष - उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में न्यायपूर्ण शिक्षा व्यवस्था बनाने का एक प्रयास किया गया है। इस नीति का उद्देश्य समाज के प्रत्येक वर्ग को शिक्षा की मुख्य धारा से जोड़ना है और इसी के साथ-साथ यह सुनिश्चित करना है कि किसी भी तरह के सामाजिक, आर्थिक, भाषायी, लैंगिक, शारीरिक और अन्य किसी भी कारण से कोई भी विद्यार्थी शिक्षा से वंचित नहीं रहना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग, अल्पसंख्यक, दिव्यांग छात्र, बालिकाएं तथा इसी के साथ-साथ ट्रांसजेंडर विद्यार्थियों के लिए भी शिक्षा का प्रावधान किया गया है जो शिक्षा में समानता के अवसर प्रदान करता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा देने की बात की गई है, डिजिटल शिक्षा का विकास किया गया है तथा बहु भाषा शिक्षण को बढ़ावा दिया गया है। नीति में जेंडर इंकलूजन फंड की सुविधा उपलब्ध कराई गई है तथा शिक्षा ग्रहण करने में विद्यार्थियों को किसी भी प्रकार की बाधा का सामना न करना पड़े, इस बात का ध्यान रखा गया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में होम स्कूलिंग को एक महत्वपूर्ण विकल्प माना गया है जो एक अच्छी पहल है। समावेशी शिक्षा का स्वरूप राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 में और उभर कर आया है, आने वाले समय में यह समझा जा सकता है कि जो विद्यार्थी शिक्षा की मुख्य धारा से जुड़ने में वंचित रह गए हैं वह इस नीति के आलोक में अपनी शिक्षा को पूर्ण कर सकेंगे। किन्तु यहां यह भी ध्यातव्य है कि सरकार को राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 2020 को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए विद्यालयों में यथा नियम सुविधाएं उपलब्ध करानी होंगी क्योंकि सामान्य विद्यालयों में जब दिव्यांग विद्यार्थी या ट्रांसजेंडर विद्यार्थी प्रवेश लेगा तो हमें यह चाहिए कि उनकी भावनाओं का सम्मान करते हुए हम बेहतर शिक्षण वातावरण उपलब्ध करा सकें। इसके साथ ही शिक्षकों एवं अभिभावकों को भी यह बात समझनी होगी कि हम समावेशी शिक्षा का लक्ष्य तभी प्राप्त कर सकेंगे जब सरकार के साथ-साथ हम भी अपनी-अपनी भूमिका का समुचित निर्वहन करें।

---O---

भगवद्गीता में आयुर्वेद के सिद्धान्त

डॉ. राम करण लुहार

सहायक आचार्य (अ.), संस्कृत विभाग, इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय (दिल्ली)

भारतीय योग परम्परा की चर्चा सिन्धु घाटी सभ्यता में प्राप्त योगमुद्रा के अवशेषों में प्राप्त होती है। योग हमारे शरीर को स्वस्थ, सुदृढ़ और बलवान बनाने की प्राचीन जीवन पद्धति रही है। नियमित यौगिक अभ्यास द्वारा हमारे मन को एकाग्र एवं शरीर को स्वस्थ और गतिशील बनाये रखने के लिए आयुर्वेद के अनुसार ऋतुचर्या का नियमित पालन अत्यावश्यक है: इससे प्रत्येक मनुष्य को समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। इसके लिए महाभारत के महत्त्वपूर्ण अंश श्रीमद्भगवद्गीता में योगविद्या के साथ-साथ आयुर्वेद के सिद्धान्तों का गहन चिन्तन हुआ है। प्राचीन काल से योग का अभ्यास वस्तुतः आध्यात्मिक विकास के लिए ही होता रहा है। लेकिन आज प्रगतिशील युग में पाश्चात्य जीवन शैली के अन्धानुकरण और अनियमित दिनचर्या से गम्भीर स्वास्थ्य संकट उत्पन्न हो गया है। क्योंकि दैनिक कार्यशैली अनियमित होने से आहारचर्या और निद्रा चक्र में असंतुलन होने से मनुष्य शारीरिक रुग्णता, थकान और मानसिक तनाव के शिकार हो रहे हैं। शास्त्रों में कहा गया है की हमारे शरीर के स्वास्थ्य पर ही मन का आरोग्य निर्भर है। इसके लिए नियमित आहारचर्या और निद्रा चक्र का पालन करना अत्यावश्यक है। भगवद्गीता में योग के साथ-साथ आयुर्वेद में वर्णित आहारचर्या का विवेचन किया गया है। उसके नियमित से हम पूर्णरूप से तनाव रहित और नीरोग रह सकते हैं। क्योंकि प्राचीनकाल में हमारे ऋषि-मुनियों और महापुरुषों ने सबसे अधिक जोर अपने स्वास्थ्य पर ही दिया है। आयुर्वेद के अनुसार पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के मूल में 'आरोग्य' ही प्रधान है। क्योंकि शारीरिक आरोग्य के बिना पुरुषार्थ चतुष्टय तथा त्रिविध एषणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा) की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः चतुर्विध पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक रूप से सर्वतोभावेन स्वस्थ होना अत्यावश्यक है। यथा—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।^१

शोधोद्देश्य- मानव जीवन में स्वास्थ्य एक अनमोल उपहार है। इसे नियमित रखने के लिए योगाभ्यास एवं आयुर्वेदशास्त्र में वर्णित ऋतुचर्या के बारे में जन सामान्य को अवगत कराना है। इनके अतिरिक्त ऋतुचर्या के नियमित पालन से 'आरोग्यता' की प्राप्ति, संरक्षण एवं संवर्धन का विस्तृत विवेचन प्रकृत शोधपत्र में किया गया है।

शोध प्रविधि- इसमें अन्वेषणात्मक तथा विवेचनात्मक पद्धति का अनुसरण करते हुए यौगिक ग्रन्थ भगवद्गीता एवं आयुर्वेद के मूलग्रन्थों के साथ-साथ कुछ अन्य सहायक ग्रन्थों को आधार बनाकर यह शोधपत्र लिखा गया है। इस शोधपत्र में विवेचना के मुख्य पक्ष अधोलिखित हैं —

1. भगवद्गीता में योग का स्वरूप
2. आहारचर्या के विविध सन्दर्भ
3. आयुर्वेद में स्वास्थ्य के आधार स्तम्भ
4. आरोग्य प्राप्ति, संरक्षण एवं संवर्धन।

भगवद्गीता में योग - इस संसार में उत्तम स्वास्थ्य और अच्छी समझ मानव जीवन के ईश्वर प्रदत्त दो सर्वोत्तम वरदान हैं। यौगिक शिक्षा द्वारा जनकल्याण और प्रकृति का संरक्षण और इसके साथ समायोजन संभव है। क्योंकि स्वच्छ प्राकृतिक वातावरण (जल-वायु) से हमारा स्वास्थ्य भी सन्तुलित रहेगा। योगविद्या के दैनिक अभ्यास और आयुर्वेद में वर्णित आहारचर्या के नियमित पालन से प्रत्येक मनुष्य शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ, सन्तुलित और दीर्घायु जीवन प्राप्त करने में समर्थ होगा। भारतीय संस्कृति में इसी समग्र स्वास्थ्य और दीर्घायु जीवन की प्राप्ति के लिए वेदों में सौ वर्षों तक जीवित रहने की प्रार्थना की गई है। यथा- **जीवेम शरदः शतम्**।^{१२} संसार में जीवित रहने के लिए स्वच्छ जल और वायु के साथ साथ-समय पर संतुलित आहार सेवन करना भी अत्यावश्यक माना गया है। महाभारत के भीष्मपर्व में प्रसिद्ध ‘भगवद्गीता’ में योग का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि यदि हम परिपक्व बुद्धि से सांसारिक व्यवहार करने में कुशल होंगे तो हमारा समाज भी सभ्य और व्यवस्थित रहेगा।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

तस्माद्योगाय युजस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥^{१३}

क्योंकि सभ्य समाज होने के साथ-साथ उसमें जागरूकता का होना भी जरूरी है; इससे समाज में समता और सन्तुलन स्थापित होता है। यथा-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥^{१४}

भगवद्गीता के अनुसार सांसारिक जीवन की साधना में ‘बुद्धि’ की साम्यावस्था को ही ‘योग’ कहा गया है। जो प्रत्येक सांसारिक कर्म को सम्पादित करने की एक उत्कृष्ट जीवन पद्धति है, इसमें विभिन्न कर्मों का फल हमारे लिए भवबन्धन का कारण नहीं बनता है। विभिन्न शास्त्रों में मनुष्य को सदैव विवेकवान् और प्रज्ञावान् बनने का उपदेश दिया गया है। योगविद्या एक व्यवस्थित जीवन जीने की आदर्श कला है, इसे मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन दर्शन माना गया है। इसका प्राचीनकाल से मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

-
२. यजुर्वेद – 36/24
 ३. भगवद्गीता – 2/50
 ४. वही – 2/48
-

आयुर्वेद- आयुर्वेद वस्तुतः प्राचीन भारतीय चिकित्सा शास्त्र है। यह सदैव हमारे शरीर के त्रिदोषों की साम्यता पर बल देता है। क्योंकि शरीर में दोषों का सम रहना ही 'आरोग्य' है। आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति दो शब्दों के मिलने से होती है- आयु एवं वेद। यहाँ आयु से तात्पर्य 'जीवन' तथा वेद से 'ज्ञान' अर्थ होता है। इस प्रकार जो शास्त्र हमें आयु की सम्पूर्णता का ज्ञान कराता है; उसे 'आयुर्वेद' कहा गया है। उसकी परिभाषा इसप्रकार है –

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।

मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥^५

अर्थात् जिस शास्त्र में हितायु, अहितायु, सुखायु तथा दुःखायु का वर्णन हो, साथ ही आयु के लिये हितकर तथा अहितकर द्रव्य, गुण एवं कर्म का वर्णन किया गया हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार जिस मनुष्य में वात, पित्त और कफ दोष की साम्यावस्था हो वह पूर्ण रूप से स्वस्थ कहलाता है, क्योंकि स्थूल शरीर के समस्त रोग जठराग्नि के मन्द होने से ही उत्पन्न होते हैं, विशेष कर उदर से संबंधित रोग। अतः सदैव शरीर की प्रकृति के अनुसार ही आहार सेवन करना चाहिए, इससे त्रिदोषों में संतुलन बना रहता है।

आयुर्वेद का प्रयोजन- आयुर्वेदशास्त्र का प्रयोजन है स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोग ग्रस्त मनुष्य को उपचार द्वारा निरोग बनाना। यथा- **प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ॥^६** इसी उद्देश्य से आयुर्वेदशास्त्र का विकास किया गया है। इसे चरकसंहिता इसप्रकार प्रमाणित करती है। यथा- **सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् । तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम् ॥^७** अर्थात् अन्य समस्त कार्यों को छोड़कर सर्वप्रथम शरीर की रक्षा करनी चाहिए। इस शरीर के अभाव में सभी शरीरधारियों के लिए सभी भावों (सुख-दुःखों) का अभाव हो जाता है। मानव-जीवन में नीरोग देह और स्वस्थ मन (सत्त्व) प्राप्त करने के लिए ही आयुर्वेद जैसे जीवन उपयोगी शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है। आयुर्वेद हमारे शरीर के आन्तरिक मलों को दूर करके त्रिदोष सन्तुलन स्थापित करता है और हम दीर्घायु को प्राप्त होते हैं।

भगवद्गीता में आयुर्वेद - आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार सात्विक आहार ग्रहण करने से मन की एकाग्रता तथा सकारात्मकता में वृद्धि होती है। इसलिए सदैव शरीर की प्रकृति के अनुसार युक्त एवं सन्तुलित आहार सेवन मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रखने में मदद करता है। इसके लिए भगवद्गीता में कहा है -**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥^८** भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने

५. चरकसंहिता, सूत्रस्थान – 1/41

६. वही – 30/26

७. चरकसंहिता, निदानस्थान – 6/7

८. भगवद्गीता – 6/17

अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि जो मनुष्य प्रतिदिन अपने दैनिक कार्यों के अनुरूप यथोचित प्राकृतिक एवं सन्तुलित आहार का सेवन करता है और विहार (ऋतुचर्या अनुसार पथ्यापथ्य) आदि का पालन करता है तथा अपने सांसारिक कार्यों को यथोचित समय पर सम्पन्न करने कि चेष्टा रखने वाला हो और समय पर सोने और जागने की प्रक्रिया भी नियमित रखता हो, उसी मनुष्य का 'योग' सिद्ध होता है और वह समस्त प्रकार के दुःखों का नाश कर पूर्णतः स्वस्थ रहता है। क्योंकि नियमित आहार-विहार से हमारे शरीर का सुचारू रूप से पोषण होता है। इसके साथ ही समय पर कार्य सम्पादित करने से मनुष्य मानसिक तनाव से रहित रहता है और ऋतुचर्या अनुसार आहार, विहार का पालन, समय पर निद्रा और जागरण से सदैव शारीरिक एवं मानसिक आरोग्य को प्राप्त करता है। आहार का हमारे मन, बुद्धि और मस्तिष्क से सीधा सम्बन्ध है। संसार में मन से ही समस्त सांसारिक व्यवहार सम्पादित किया जाता है।

अतः हमें सदैव सात्विक आहार का सेवन करना चाहिए, इससे मन में सकारात्मक विचार उत्पन्न होंगे। इसी के सन्दर्भ में एक कथन है- **“Good Food, Good Mood”** अर्थात् जैसा खाओगे अन्न, वैसा होगा मन। इसप्रकार संतुलित एवं सात्विक आहार से मन की सकारात्मकता में वृद्धि होती है जो एकाग्रता को बढ़ाती है इससे हमारा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है।

स्वास्थ्य के आधार स्तम्भ- इस संसार में मनुष्य देह प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। इसके बारे में कहा भी है- **नरत्वं दुर्लभं लोके**।^९ अर्थात् समस्त प्राणियों में मानव शरीर की रचना सबसे अनुपम मानी गई है। इनमें मानव शरीर प्रकृति के पञ्चतत्त्वों से निर्मित हुआ है तथा स्वास्थ्य भी प्रकृति की नैसर्गिक देन है। अतः हमें प्रकृति के पञ्च महाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) को सदैव स्वच्छ और प्रदूषण रहित बनाने का प्रयास करना चाहिए। ये तत्त्व मानव स्वास्थ्य संरक्षण के अमूल्य उपहार हैं, इन्हें सदैव स्वच्छ बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। महाकवि कालिदास ने प्रकृति के पञ्चतत्त्वों से निर्मित शरीर को समस्त सांसारिक कर्तव्यों के निर्वहन का मुख्य साधन बतलाते हुए कहा है- **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**।^{१०} आयुर्वेद में समग्र स्वास्थ्य के लिए आदर्श जीवनशैली के तीन आधार स्तम्भ (Pillars) को विवेचित करके उनका नियमित पालन करने का उपदेश दिया है। त्रय उपस्तभा इति- **आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति**।^{११} अर्थात् आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य का पालन। इनमें आहार संयम स्वास्थ्य संवर्धन का प्रथम अनुशासन है। आयुर्वेद के अनुसार सात्विक आहार मनुष्य को सदैव शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं मानसिक रूप से एकाग्र बनाने में मदद करता है। शरीर के सम्यक् पोषण हेतु सन्तुलित आहार के साथ-साथ पर्याप्त निद्रा और ब्रह्मचर्य (सामान्य विवेक) के संयम को अनिवार्य माना गया है। इनके यथोचित पालन करने से प्रत्येक मनुष्य पूर्णतः स्वस्थ और दीर्घायु होता है। इसके लिए सदैव भरपेट भोजन ग्रहण

९. अग्निपुराण – 337/3

१०. कुमारसंभव 5/33

११. चरकसंहिता, सूत्रस्थान – 11/35

करना चाहिए ने की पेटभर के इसके साथ-साथ आहार के चतुर्थांश का नियमित पालन करना अत्यावश्यक है। प्रतिदिन सात्विक आहार सेवन करने से हमारा उत्तम शारीरिक स्वास्थ्य, सकरात्मकता तथा मानसिक एकाग्रता में वृद्धि होती है। यही दीर्घायु जीवन का मूल मन्त्र है। यथा - **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलभ्ये सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥**^{१२} आयुर्वेद में अन्न की अपेक्षा जल का महत्व अधिक बतलाया गया है। क्योंकि अन्न की उत्पत्ति जल से ही होती है, जल, अन्न का मूल कारण है। अन्न भोजन पदार्थों में जीविका यापन करने वाले पदार्थों में श्रेष्ठ है वही जल तृप्ति करने वाले पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है। यथा- **अन्नं वृत्तिकरणाम् श्रेष्ठम्, उदाकमाश्वास करणाम् ॥**^{१३} इसप्रकार सन्तुलित आहार सदैव हमारे शरीर का धारक एवं पोषक होता है। आहार के अन्तर्गत प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज लवण, विटामिन्स एवं जल का निर्धारित और सन्तुलित मात्रा में नियमित सेवन आवश्यक है। आहार सदैव शरीर के समस्त धातुओं का पोषण करने वाला मनोनुकूल लगने वाला ही ग्रहण करना चाहिए। यथा - **पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं धातुप्रपोषणम्। मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥**^{१४} सदैव सुपाच्य, स्वादिष्ट और पौष्टिक आहार का ही सेवन करना चाहिए। पौष्टिक एवं सन्तुलित आहार ग्रहण करने से हमारे शरीर में त्रिदोषों की साम्यावस्था भी बनी रहेगी इससे हम शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ रहेंगे। पौष्टिक एवं सात्विक आहार हमारे शरीर में बल, वर्ण और औज की वृद्धि करता है। इसके बिना प्राणों की भी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसी सन्दर्भ से उपनिषद् में अन्न को 'ब्रह्म' कहा गया है। यथा - **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् ॥**^{१५} इसके अलावा प्रतिकूल परिस्थिति में जैसा भोजन प्राप्त हो उसे आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। यथा - **अन्नं न निन्द्यात् ॥**^{१६} अर्थात् अन्न की कदापि निन्दा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अन्न से यह शरीर ही नहीं अपितु हमारा मन भी निर्मित होता है। जो मानव व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण आधारशिला भी मानी गयी है। भगवद्गीता और उपनिषद् में अन्न के विषय में कहा गया है। यथा- **अन्नाद्भवन्ति भूतानि ॥**^{१७} और **अन्नाद्भूतानि जायन्ते ॥**^{१८} अर्थात् अन्न से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार अन्न सम्पूर्ण प्राणियों की आधारभूत आवश्यकता है। अतः प्रतिदिन मनुष्य जो भोजन ग्रहण करता है, भगवद्गीता के अनुसार वह प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार का होता है।

-
१२. छान्दोग्योपनिषद् - 7/26/2
 १३. चरक संहिता, सूत्र स्थान - 25/40
 १४. हठप्रदीपिका - 1/63
 १५. तैत्तिरीयोपनिषद् - 3/2/1
 १६. वही - 3/7/1
 १७. भगवद्गीता - 3/14
 १८. तैत्तिरीयोपनिषद् - 2/2/1
-

त्रिविध आहार

सात्त्विक आहार

राजसिक आहार

तामसिक आहार

सात्त्विक आहार— सात्त्विक आहार सदैव आयु को बढ़ाने वाला तथा शारीरिक बल, स्वास्थ्य, सुख और मन को तृप्ति प्रदान करने वाला होता है। ऐसा भोजन रसमय, स्निग्ध, स्वास्थ्यप्रद तथा हृदय को भाने वाला होता है। विविध शास्त्रों में सात्त्विक आहार का महत्व बतलाया गया है।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥^{१९}

राजसिक आहार— यह आहार अत्यधिक तिक्त, खट्टे, नमकीन, गरम, चटपटे, शुष्क तथा शरीर में जलन उत्पन्न करने वाले होते हैं; जो रजोगुणी व्यक्तियों को प्रिय होता है। ऐसा आहार दुःख, शोक तथा विविध शारीरिक एवं मानसिक रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥^{२०}

तामसिक आहार— ऐसा आहार जो खाने से तीन घंटे पूर्व निर्मित किया गया हो, स्वाद रहित, वियोजित एवं सड़ा, जूठा तथा अस्पृश्य वस्तुओं से युक्त हो। यह आहार उन लोगों को प्रिय होता है, जो तामसी प्रवृत्ति के होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥^{२१}

वस्तुतः आहार का उद्देश्य मस्तिष्क को परिशुद्ध करना, शरीर को शक्ति पहुँचाना और आयु वर्धन करना है। ऐसा भोजन जो शास्त्रीय विधि से निर्मित और भगवान् को अर्पित करके सेवन किया जाता है, वह दिव्य होता है। जो आहार पर्याप्त घृत आदि से स्नेह युक्त, मधुर, कटु, कषाय अथवा लवण इत्यादि नहीं, अपितु पेट को एक चौथाई अंश को खाली रखकर अन्तश्चेतना की प्रसन्नता के लिए ग्रहण किया जाता है, उसे मितहार (Moderate diet) कहा गया है। क्योंकि अधिक मात्रा में आहार का सेवन करना भी आलस्य और निद्रा को बढ़ाता है। इसलिए जो मनुष्य समय पर और संतुलित मात्रा में नियमित आहार ग्रहण करता है, वहीं पूर्ण आरोग्यता को प्राप्त करता है। यथा- **कालभोजनं आरोग्यकराणां श्रेष्ठम् ॥^{२२}** दैनिक कार्य सम्पन्न करने के पश्चात्

१९. भगवद्गीता – 17/8

२०. वही – 17/9

२१. वही – 17/10

२२. चरकसंहिता, सूत्रस्थान – 25/40

रात्रि में पर्याप्त विश्राम करने से शरीर में नई ऊर्जा और स्फूर्ति का संचार होता है। सदैव स्वस्थ, सक्रिय, एकाग्र और दीर्घायु होने के लिए प्रतिदिन उचित समय पर शयन और जागरण करना बहुत जरूरी है। शास्त्रों में कहा गया है कि विश्राम की आवश्यकता हमारे मस्तिष्क और शरीर को ही होती है, मन को नहीं।

लेकिन आज के वैज्ञानिक युग की विभिन्न संस्थाओं के समस्त कार्यालयों में आधुनिक तकनीक आधारित (Computer based) कार्यप्रणाली से शारीरिक थकान नहीं होती है, शारीरिक थकान नहीं होने से रात्रि में नींद भी समय पर नहीं आती है। इससे हमारा 'निद्रा चक्र' प्रभावित हो रहा है जो अनिद्रा, तनाव और चिड़चिड़ापन जैसी समस्याओं में वृद्धि करके हमें रोगग्रस्त कर रहा है। अतः समग्र स्वास्थ्य के लिए हमें अपनी दिनचर्या में सन्तुलन हेतु नियमित व्यायाम, योगाभ्यास और कार्य के अनुकूल सन्तुलित आहार का सेवन करना चाहिए। प्रकृति में सूर्य और चन्द्रमा के अनुसार ऋतुचक्र का निर्धारण होता है। शरीर में स्थित मस्तिष्क की जैविक घड़ी (Bio-Clock) के नियमित संचालन से हमारे शरीर में आहार का पाचन, सप्तधातु निर्माण और हार्मोन्स के सन्तुलन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। अतः शरीर को दैनिक कार्यक्षमता के अनुसार रात्रि में नियमित विश्राम जरूर देना चाहिए जिससे यह अपना पोषण और प्रोटीन निर्माण का कार्य सुचारू रूप से कर सके। दैनिक कार्यक्षमता के अनुसार आहार और पर्याप्त नींद अत्यावश्यक है। पर्याप्त निद्रा सेवन से रोगप्रतिरोधक क्षमता- (Immunity) में वृद्धि होती है जो विभिन्न रोगों से लड़ने में सहायक है। इसप्रकार आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न करने के बाद उचित समय पर शयन करने से शारीरिक बल और मानसिक एकाग्रता में वृद्धि होती है।

निष्कर्ष- जीवन में स्वस्थ रहकर ही लोक कल्याण के कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। प्राचीन काल में हमारे ऋषि-मुनि भी स्वयं स्वस्थ जीवन शैली को अपनाकर जनसामान्य को भी योगाभ्यास के साथ-साथ में आयुर्वेद में वर्णित आहारचर्या को अपनाने का उपदेश देते थे। आधुनिक अव्यवस्थित जीवनशैली, खानपान में असंतुलन, पर्याप्त नींद का अभाव और शारीरिक श्रम की कमी के कारण अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोग उत्पन्न हो रहे हैं। ऐसे में शरीर को स्वस्थ, सक्रिय और निरोग बनाये रखने के लिए शुद्ध, सात्विक एवं पौष्टिक आहार का सन्तुलित मात्रा में नियमित सेवन के साथ-साथ यौगिक जीवनचर्या का पालन करना बहुत आवश्यक हो गया है। इसलिए सन्तुलित आहार और यौगिक जीवनचर्या को अपनाकर सभी लोग निरोग रह सकते हैं। इसके लिए प्रत्येक मनुष्य को सदैव आहार, विहार संबंधी नियमावली का नियमित पालन करना चाहिए। अन्त में सभी के लिए मंगल कामना- **सर्वे सन्तु निरामयाः।**

---O---

ऐतरेय आरण्यक का सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन

डॉ. सुकान्त आर्य

प्रवक्ता संस्कृत, भेषज पटेल महाविद्यालय, डुडुका, सुन्दरगढ

प्रस्तावना- इस परिवर्तनशील काल में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने वैदिकज्ञान के प्रचार प्रसार हेतु तथा जनसाधारण के उपकार हेतु निरन्तर अनेक कार्य किया है, परन्तु वैदिकचिन्तन धारा समाज के सभी वर्गों तक यथावत् पहुँच नहीं पा रही थी अतः ऋषियों ने वेदार्थ के मर्म को बोधगम्य करने हेतु ब्राह्मणसाहित्य, आरण्यक-साहित्य, उपनिषद्-साहित्य तथा सूत्रसाहित्य की भी परिकल्पना की थी। जिससे मानवजाति वेदरहस्य को सहजतया समझकर उसको अपने उपकारार्थ प्रयोग कर सके। परन्तु यह अलौकिक एवं दिव्यता से परिपूर्ण वैदिकज्ञान केवलमात्र बुद्धिजीवियों के कण्ठाभूषण बनकर सीमित रह गया तथा समाज का कुछ भाग इससे वञ्चित ही रहा। पुनः इस दिव्यधारा को प्रवाहित करने हेतु ज्ञानावतार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने वैदिकचिन्तन, वैदिकज्ञान तथा आत्मज्ञान व ब्रह्मज्ञान को कथा, आख्यान और इतिहास के आश्रय से पुराणशास्त्र के रूप में प्रस्तुत करके समाजहित में एक और अद्वितीय योगदान दिया। उन्होंने १८ पुराणों एवं उपपुराणों में सृष्टि, प्रलय, वंशपरम्परा में आयोजित यागादि के वर्णन, मन्वन्तरो तथा वंशानुचरित्र को एकत्रित करके इसके माध्यम से वेदों की ओर पुनः लौटकर आने की प्रेरणा दी है। भारतीय मनीषियों का मानना है कि यदि मनुष्य सत्य को अपनी प्रबुद्धता के कारण बुद्धिबल से प्राप्त करना चाहे तो अवश्य प्राप्त करे। यदि अप्रबुद्धता के कारण बुद्धिपूर्वक कर्मबल अथवा भक्तिबल से प्राप्त करना चाहे तो भी वह अवश्य प्राप्त करे। अन्ततः सत्य को प्राप्त करना ही सबका परमलक्ष्य होना चाहिए।

ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेदीय शाकल शाखा के ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिमभाग है। इसके रचयिता ऐतरेय महिदास को ही माना जाता है। इसमें पाँच प्रपाठक (आरण्यक) हैं। प्रथम आरण्यक में महाव्रत नामक सत्रयाग है। द्वितीय आरण्यक में निष्कैवल्य शस्त्र, प्राणविद्या, पुरुष का वर्णन तथा अन्तिम तीन अध्यायों (४, ५, ६) में ऐतरेयोपनिषद् है। तृतीय आरण्यक को संहितोपनिषद् (संहिता, पद, स्वर, व्यञ्जन) कहा जाता है। चतुर्थ आरण्यक में महानाम्नी ऋचाओं का संकलन है, जो कि महाव्रत में उद्गाता के द्वारा गाए जाते हैं। पञ्चम आरण्यक में महाव्रत के माध्यन्दिन सवन में प्रयुक्त निष्कैवल्यशस्त्र का वर्णन है। ब्राह्मणग्रन्थों के उपरान्त गुह्यतम वैदिकयज्ञीय रहस्य की आध्यात्मिक व्याख्याएँ की गई हैं।

आरण्यक शब्द की निर्मिति 'अरण्ये भव आरण्यकम्'। अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते। अरण्ये तदधीयेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥^१ अरण्य में होने वाले अध्ययन-अध्यापन, मनन-चिन्तन, शास्त्रीय चर्चा और आध्यात्मिक चर्चा का संकलन है। अतः इसको 'रहस्य' भी कहा गया है। गोपथ ब्राह्मण में 'सरहस्याः' कहकर

आरण्यकों को सम्बोधित किया गया है।^२ निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी आरण्यक को 'ऐतरेयके रहस्यब्राह्मणे'^३ कहा है। ऐतरेय आरण्यक का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि समस्त वैदिक कर्मकाण्डों को सम्यक् ज्ञान की दिशा प्रदान करना ही आरण्यक साहित्य का प्रमुख प्रयोजन है। आरण्यक साहित्य के अनुसार मनुष्यजाति को न केवलमात्र ज्ञानमार्ग और न ही केवलमात्र कर्ममार्ग ही सनातन सुख प्रदान कर सकता है। अतः दोनों मार्गों (ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग) का समन्वित रूप ही त्रैकालिक सुख का अनन्य साधन है।

वेदभाष्यकार शिरोमणि आचार्यसायण के अनुसार विद्याधिकारी तीन प्रकार के होते हैं- उत्तम, मध्यम तथा अधम।^४क्रमशः उत्तम- संसार से विरक्त तथा ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करने के इच्छुक साधकों के लिए 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'^५ इत्यादि उपनिषद् वाक्य हैं। मध्यम- हिरण्यगर्भ की प्राप्ति द्वारा क्रममुक्ति की इच्छा रखने वाले साधकों के लिए प्राणविद्या है। अधम- उपर्युक्त दोनों प्रकार की इच्छा न करने वाले साधकों के लिए संहितोपनिषद् (तृतीय आरण्यक) के सस्वर उच्चारण का विधान है। निष्कर्षतः ऐतरेय आरण्यक की संरचना उपर्युक्त तीन प्रकार के मनुष्यों के लिए प्रस्तुत की गई है। इस आरण्यक में वैदिक संस्कृति की व्यापकता का स्फुटतया परिदर्शन होता है। मेरे मत में ऐतरेय आरण्यक की विचारपद्धति इहलौकिक स्थूल कर्मकाण्ड से आरम्भ होकर विशुद्ध सूक्ष्मतम अध्यात्म की परिणति पर्यन्त अनवरत गतिशील है। अतः वर्तमान राष्ट्र के युवावर्ग के मस्तिष्क में वैदिककालीन चिन्तनपद्धति के प्रति परिवर्तन हेतु इस आरण्यक का धार्मिक एवं दार्शनिक परिशीलन अत्यावश्यक है।

धार्मिक एवं दार्शनिक रहस्य- ऐतरेय आरण्यक का आरम्भ महाव्रत से किया जाता है। किसी भी प्रकार के वैदिकयज्ञ का आयोजन निस्सन्देह किसी वस्तु की प्राप्ति हेतु ही किया जाता है। सम्भवतः सांसारिक मनुष्यों व साधकजनों की इच्छाओं को केन्द्रित करते हुए ही ऐतरेय आरण्यक में इसप्रकार रहस्यात्मक आध्यात्मिक तत्त्वों की संकल्पना की गई होगी। ऐतरेय आरण्यक के आरम्भ में ही महाव्रत के वर्णन प्रसङ्ग में केवलमात्र इन्द्रदेव की ही स्तुति की गई है। इससेयह संज्ञान प्राप्त होता है कि न केवल वैदिककाल में ही अपितु आरण्यक-काल में भी इन्द्रदेव को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। परन्तु अन्य देवों की भी उपासना की जाती थी। जैसे यज्ञीय प्रसङ्ग में बृहस्पति, सोम, वाक्, मित्र, वरुण, द्यावापृथिवी, आदित्य, वायु, पूषा, अग्नि, सूर्य, नक्षत्र, मरुत् इत्यादि देवों का आह्वान भी यजमान के संरक्षणार्थ किया जाता था।^६ इस प्रकार से देवशास्त्रीय अध्ययन करने पर यह रहस्य स्पष्ट होता है कि ऐतरेय आरण्यक के काल में बहुदेवतावादभी प्रचलित रहा होगा। कर्मकाण्ड में इन्द्र की श्रेष्ठता होने पर भी ज्ञानकाण्ड में अथवा

२. सर्वे वेदाः.....सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः । गोपथ, १/२

३. निरुक्त, १/४ की टीका में

४. त्रिविधो विद्याधिकारी उत्तमो मध्यमोऽधमश्च । ऐतरेय आरण्यक, सायण भाष्य, ३/१/१

५. ऐतरेयोपनिषद्, १/१/१

६. अनु मामिन्द्रो अनु मां बृहस्पतिरनु मां सोमो अनु वाग्देव्यावीत् ।.... ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रास्तेनो देवाः सुहवाः शर्म यच्छतेति ॥ ऐतरेय आरण्यक, ५/१/१

आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणतत्त्व को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि देवता, ऋषि एवं भौतिकसंसार आदि सभी प्राणजन्य ही हैं। ऐतरेय आरण्यक में सभी इन्द्रियों में प्राणतत्त्व की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। प्राणतत्त्व ही सर्वनियन्ता एवं सर्वव्यापी है।^७ प्राण की ही शक्ति से मनुष्य से पिपीलिका पर्यन्त सभी जीवों की सत्ता विद्यमान है।^८ यहाँ देह को मर्त्य तथा प्राण को अमर कहा गया है।^९ अन्तरिक्ष तथा वायु की सृष्टि प्राणतत्त्व के द्वारा ही हुई है। अतः प्राण को पिता तथा अन्तरिक्ष एवं वायु को प्राणज सन्तान कहा गया है। पिता-पुत्र के सम्बन्ध को उपमित करते हुए कहा है कि यथा कृतज्ञ पुत्र निज सत्कर्मों से पितृसेवा में तत्पर रहता है तथा अन्तरिक्ष एवं वायु भी प्राण की सेवा में रहते हैं। अन्तरिक्ष का अनुसरण करने पर ही प्राणिमात्र का सञ्चरण सम्भव है। मनुष्य दूरदेश पर उच्चारित शब्द को अन्तरिक्ष की सहायता से ही सुन सकता है। वायु सुगन्ध सङ्ग्रह करके प्राण को सन्तुष्ट करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष और वायु अपने पिता प्राण की परिचर्या सदैव किया करते हैं।^{१०} ऐतरेय आरण्यक के अनुसार आदित्य और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं। ऋग्वेदीय होता महदुक्थ में उसी ब्रह्म का विचार किया जाता है, यजुर्वेदीय अध्वर्यु भी अग्निचयन में उसी ब्रह्म की मीमांसा करते हैं, ऐसे सामवेदीय उद्गाता भी महाव्रत नामक याग में इसी ब्रह्म का मनन करता है। पृथ्वी, स्वर्ग, वायु, आकाश, जल, वनस्पति, चन्द्र, नक्षत्र तथा प्राणिमात्र में इसी ब्रह्म की ही उपासना जाती है।^{११}

यहाँ पर पुरुष (मनुष्य) को ‘शिरःपाण्यादिमान्देहः’^{१२} कहा गया है। पुरुष को अत्यधिक महत्त्व देते हुए कहा गया है कि भौतिक देहधारी मनुष्य से पृथक् होकर कोई भी साधक आत्मदर्शन में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। पुरुष में पशु-पक्षियों की अपेक्षा ज्ञान की अधिकता रहती है।^{१३} अतः पुरुष को चैतन्यतम भी कहा गया है। एकत्र स्वर्ग की सङ्कल्पना भी प्राप्त होती है। जहाँ किसी देश-विशेष को स्वर्ग के रूप में प्रतिपादित करते हुए प्रेङ्ख नामक वस्तु को स्वर्गप्रापिका नौकारूप माना गया है। प्रेङ्खारोहण-विधि प्रसङ्ग में नौकारोहण की भाँति प्रेङ्खारोहण करते समय भी पीछे की ओर से ही आरोहण करना चाहिए।^{१४}

७. सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्। ऐतरेय आरण्यक, २/१/६
८. सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्यथाऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्याः विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्। ऐतरेय आरण्यक, २/१/६
९. मर्त्यानि हीमानि शरीराणि अमृतैषा देवता। ऐतरेय आरण्यक, २/१/८
१०. प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्चान्तरिक्षं वा अनुचरन्त्यन्तरिक्षमनु शृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धवाहत्येवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च। ऐतरेय आरण्यक, २/१/७
११. एतं ह्येव बहुचा महत्युक्थे मीमांसन्त..... सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते। ऐतरेय आरण्यक, ३/२/३
१२. ऐतरेय-आरण्यक, २/४/२
१३. पुरुषे त्वेवाऽऽविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद स्वस्तनं वेदलोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सत्येवं सम्पन्नः। ऐतरेय आरण्यक, २/३/२
१४. अन्वञ्चमधिरोहेदित्याहुरनूचीं वै नावमधिरोहन्ति नौर्वैषा स्वर्गयाणी यत्प्रेङ्ख इति तस्मादन्वञ्चमेवाधिरोहेत्। ऐ. आरण्यक, १/२/४

सृष्टि-प्रक्रियाके वर्णन प्रसङ्ग में कर्म के महत्त्व वर्णित किया गया है। सृष्ट्युत्पत्ति का क्रम निर्धारण करते हुए प्रजापति से देवता, देवताओं से वर्षा, वर्षा से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से रेतस्, रेतस् से प्रजा, प्रजाओं से हृदय, हृदयों से मन, मनो से वाणी, वाणियों से कर्म की उत्पत्ति होती है। पुनश्च कर्म और पुरुष द्वारा सम्पादित कर्म को ही ब्रह्मलोक कहा गया है।^{१५} इसी कर्म के आधार पर सम्पूर्ण सृष्टिप्रक्रिया गतिशील है।

सामाजिक रहस्य- ऐतरेय आरण्यक में यद्यपि वर्णव्यवस्था का स्पष्टतया उल्लेख नहीं है पुनरपि यत्किञ्चित् वर्णन प्राप्त होता है उससे यह स्पष्ट होता है कि सभी वर्ण निज निज नियत कर्मों में अनुरक्त ही रहते थे। ब्राह्मणवर्ग अध्ययन-अध्यापन तथा यजन-याजन में ही प्रवृत्त होता था। क्षत्रियवर्ग राष्ट्ररक्षा में ही सेवारत था। वैश्यवर्ग धर्मसहित व्यापार के द्वारा ही धनोपार्जन करता था। शूद्रवर्ग सेवा कर्म में ही समर्पित था। पुनरपि सन्मार्गानुगामी प्रत्येक अतिथि का सत्कार सभी वर्णों के गृहस्थों का परमधर्म ही था।^{१६} अतः उस काल में असन्मार्गानुगामी पुरुष अत्यन्त दरिद्र होने पर भी आतिथ्य का भागी कदापि नहीं होता था।^{१७} इससे यह ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक चारित्रिक उत्कर्ष की विशेष भावना आरण्यक काल तक सुरक्षित रही है। आरण्यककाल में सभी वर्णों के मनुष्य परस्पर मिलने पर स्मृतिकालीन विधि के अनुसार ही वर्णानुकूल कुशलक्षेम पूछा करते थे।^{१८} उस काल में सभी वर्णों के नारीवर्ग को भी विशिष्टस्थान प्राप्त था। नारी के बिना पुरुष को पुरुषत्व गुण से हीन माना जाता था। यह उल्लेख आता है कि मनुष्य अपनी धर्मपत्नी को प्राप्त करने के उपरान्त ही अपने आप को अपूर्णता से पूर्णता की ओर गति करने वाला यत्नवान् साधक मानता था।^{१९}

उसी प्रकार इसी काल में नारी को शिक्षा का सर्वाङ्गीण अधिकार प्राप्त था। ऐतरेयोपनिषद् के ‘अपक्रमन्तु गर्भिण्यः’^{२०} से यह सङ्केतित होता है कि वेदरसपिपासु समस्त नारी समाज को वेद व आध्यात्मिक प्रवचन सुनने का अधिकार था। परन्तु गर्भिणी नारी को मानसिक वेदना से दूर करने हेतु वैदिक रहस्यात्मक प्रवचन से दूर रहने का विधान प्राप्त होता है।

ऐतरेय आरण्यक कालीन समाज में मिथ्याभाषण करने वाला मनुष्य सपरिवार नाश को प्राप्त होता था।^{२१} वृक्ष को समूल उखाड़े के बाद जैसे वृक्ष का मूल सर्वप्रथम सूखता है उसके अनन्तर ही उसके फल

-
१५. अथातो रेतसः सृष्टि। प्रजापते रेतो देवा देवानां रेतो वर्षम्.....वाचो रेतः कर्म तदिदं कर्म कृतमयं पुरुष ब्रह्मणो लोकः। ऐतरेय आरण्यक, २/१/३
 १६. यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिर्भवति। ऐतरेय आरण्यक, १/१/१
 १७. न वा असन्तमातिथ्यायाद्रियन्ते। ऐतरेय आरण्यक, १/१/१
 १८. न त्वेवान्यत्कुशलाद् ब्राह्मणं ब्रूयात्। ऐतरेय आरण्यक, ३/१/३ ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च। मनुस्मृति, २/१२७
 १९. पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते। ऐतरेय आरण्यक, १/३/५
 २०. ऐतरेयोपनिषद्, १५/१/१
 २१. अथैतन्मूलं वाचो यदनृतं तद्यथा वृक्षः....। ऐतरेय आरण्यक, २/३/६

एवं पुष्प सूखते हैं, उसी प्रकार अनृत बोलने वाला मनुष्य प्रथम स्वयं तथा तदनन्तर उसका सम्पूर्ण परिवार नष्ट हो जाता है। परन्तु सांसारिक मनुष्यों से सम्बद्ध होने के कारण हितकारी एवं असत्यवादिता का अनुमोदन भी किया गया है। क्योंकि सत्य और अनृत के मिथुन से मनुष्य इहलोक में निन्दा-रहित रहता है तथा परलोक में भी उत्कृष्ट जन्म को प्राप्त करता है।^{२२}

तत्कालीन समाज में आर्थिक अवस्था को सन्तुलित करने के लिए दान करने की एक सुसंगठित व्यवस्था की परिकल्पना की गई थी। सांसारिक मनुष्य के द्वारा सर्वस्व दान करना प्रशंसनीय नहीं माना गया है क्योंकि धनसम्पदा से परिपूर्ण होने पर ही समाज में भिक्षाटन द्वारा जीवित रहने वाले ब्रह्मचारी इत्यादि एक आश्रमवासियों का भरण-पोषण करना तथा उनको सन्तुष्ट करना प्रत्येक गृहस्थियों का ही परमधर्म था। पुनरपि जो मनुष्य लुब्धकबुद्धि से धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी याचकवृन्द को दान नहीं करता था। उसप्रकार के मनुष्य को पापी तथा जीवित ही मृततुल्य कहा गया है।^{२३}

उपसंहार - ऐतरेय आरण्यक के अध्ययनोपरान्त वैदिकज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर ध्यानाकर्षण आवश्यक है। आरण्यक साहित्य ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों को जोड़ने वाला सनातन सेतु है। जहाँ ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिकयज्ञों के दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष का अङ्कुरण हुआ है, वहाँ उसका पल्लवित रूप आरण्यक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। अतः आरण्यक साहित्य वेदभाष्यपरम्परा में अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। ब्रह्मतत्त्व के साधक को सकाम अध्यात्म से निष्काम अध्यात्म की ओर प्रवृत्ति कराना ही आरण्यक ग्रन्थों का मुख्य प्रयोजन है। निष्काम अध्यात्म की ओर प्रवृत्ति मानव की सहजप्रकृति है। गृहस्थों के लिए सकामकर्म भी उचित है, परन्तु वानप्रस्थ और संन्यासी के लिए हेयकर्म है। अतः दोनों आश्रमवासियों को अध्यात्म विषयक परिचर्चा हेतु भी आरण्यक साहित्य अवश्यमेव पठनीय है। आरण्यक साहित्य स्थूलतत्त्व से सूक्ष्मतत्त्व अर्थात् मूर्त से अमूर्त तत्त्व की ओर प्रस्थान करने का सरलतम मार्ग का उपदेशक है। इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक की विशेषताओं में प्राणविद्या, प्रज्ञा का महत्त्व, आत्मस्वरूप का वर्णन, वैदिक अनुष्ठान, स्त्रियों का महत्त्व तथा आचारसंहिता इत्यादि समसामायिक विषय सन्निहित है। अतः आरण्यकों के विषय में महाभारत में कही गयी बात सत्य ही है- **नवनीतं यथा दक्षो मलयाच्चन्दनं यथा। आरण्यकञ्च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ॥**^{२४}

---O---

२२. सत्यानृते मिथुनीकरोति तयोर्मिथुनात्प्रजायते भूयान्भवति। ऐतरेय आरण्यक, २/३/६

२३. स यत्सर्वं नेति ब्रूयात्पापिकाऽस्य कीर्तिर्जायेत सैनं तत्रैव हन्यात्। ऐतरेय आरण्यक, २/३/६

२४. महाभारत, १/३३१/३

दिनकर जी की मित्र भावना

डॉ. श्याम लाल गौड़

सहायक अध्यापक, श्रीजगदेव सिंह संस्कृत महाविद्यालय, समऋषि आश्रम, हरिद्वार

मित्रता की जब हम बात करते हैं, तो हमारे सामने मित्र भावना से ओत-प्रोत श्री कृष्ण और सुदामा तथा कर्ण और दुर्योधन की मित्रता दिखाई पड़ती है, जिसकी पराकाष्ठा की कोई सीमा नहीं है।

यहाँ दिनकर जी की मित्र भावना का प्रतिनिधित्व करता हुआ कर्ण जिसकी मित्रता विश्व विख्यात है। इसके उदाहरण आज भी मित्रता की कसौटी पर नापे जाते हैं।

मित्र में जो गुण नीतिशास्त्र कार ने बताए हैं-

“पापन्निवारयतियोजयते हिताय।

गुह्यनिगूहति गुणान्प्रकटी करोति ॥

आपद्रुतंच न जहाति ददाति काले।

सन्नमित्रलक्षणमिदंप्रवदन्ति सन्तः ॥”^१

उन सभी गुणों से युक्त दिनकर जी का कर्ण भी पूर्ण मित्र है। कर्ण अपनी मित्रता के आगे किसी को भी नहीं ठहरते देता, कर्ण अपनी मित्रता को ही अपना सर्वस्व मानता है। वह अपनी मित्रता के आगे, अपने प्राणों को भी तुच्छ मानता है। कर्ण की मित्रमयी दृष्टि में मित्र से बड़ा, मित्रता के आगे, मित्रता के सामने, सभी मानवीय मूल्य और समस्त वैभव, पद, प्रतिष्ठा लोष्ठवत् है। कर्ण अपनी मित्रता को प्रमाणित करता हुआ कहता है-

“है ऋणी कर्ण का रोम- रोम

जानते सत्य यह सूर्य -सोम

तन मन धन दुर्योधन का है

यह जीवन दुर्योधन का है

सुरपुर से भी मुख मोड़ूंगा

केशव में उसे न छोड़ूंगा ॥”^२

दिनकर जी की मित्र भावना की ही तरह कर्ण की मित्र भावना श्रेष्ठ है, अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय है। कर्ण अपनी मित्रता का इतना ऋणी है, कि वह भगवान श्री कृष्ण के सामने यह वचन कहता है- कि

१. लेखक भर्तृहरि, संपादक- डॉक्टर श्रीकृष्णमणि त्रिपाठीनीतिशतक, चौखंबा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी श्लोक संख्या 73 पृष्ठ संख्या -69

२. लेखक राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर, संस्करण- 2012 "रश्मिरथी" लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारीबिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद -01 पृष्ठ संख्या -29

हे केशव! यदि मुझे साक्षात् स्वर्ग भी मिल रहा हो तो मैं उसे मुख मोड़ लूंगा परंतु, मैं अपने मित्र दुर्योधन का साथ न छोड़ूंगा, क्योंकि मेरी मित्रता के साक्षी सूर्य चंद्रमा आदि हैं। मैं संकल्प कर चुका हूँ कि मेरा तन-म-धन यहां तक की मेरा यह जीवन भी अब केवल और केवल मेरे मित्र दुर्योधन का है।

यही शास्त्रोक्त सच्ची मित्रता है, जिसमें दो शरीर धारी भले ही दिखाई पड़ते हों परंतु दोनों शरीरों में प्राण एक ही होता है।

मित्रता की यही पराकाष्ठा हम सबको इन मित्र समूहों की चर्चा करने पर और इनसे शिक्षित होने पर मजबूर कर देती है। मानवीय संबंधों में एक यही संबंध ऐसा संबंध है जो भिन्न-भिन्न कुल-गोत्र में जन्मे हुए होने के बाद भी ऊँच-नीच की भावनाओं का अतिक्रमण करते हुए इस अद्वितीय संबंध जिसका नाम मित्रता है की स्थापना करते हैं। जो कि सामान्य व्यावहारिक संबंध ना होते हुए भी गुरु-शिष्य, माता-पुत्र, भाई-बहन, भाई-भाई, पति-पत्नी के संबंध से अत्युन्नत शिखर संबंध का नाम ही मित्रता है।

इस मित्रता की मित्र भावना से ओत-प्रोत होने के कारण दिनकर जी ने अपनी कालजई खण्ड-काव्य रश्मिरथी में इस मित्रता का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया है। निसंदेह यहां लेखक की भावना के मूल में ही मित्र भावना परिलक्षित दिखाई पड़ती है।

मित्रता एक ऐसा विषय रहा है, कि जिसकी चर्चा भर्तृहरि द्वारा रचित -नीतिशतक में, भगवान् वेदव्यास कृत- श्रीमद् भागवत महापुराण में, भगवान वेदव्यास कृत - श्रीमद्महाभारत में, आचार्य तुलसीदास कृत- रामचरितमानस में, और नीति संग्रह में हो चुकी है, मित्र की प्रशंसा के संदर्भ में साहित्यकारों, लेखकों आदि ने उन्मुक्त कंठ से मित्र की प्रशंसा की है यहां नीतिशतक कार श्री भर्तृहरि जी मित्र की प्रशंसा के संदर्भ में कह रहे हैं कि-

“मित्रंप्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः,
पात्रंयत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेणतद्दुर्लभम्,
येचान्ये सुहृद, समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुलास्ते,
सर्वत्रमिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषा विपत्” ॥३

मित्र एक ऐसा रसायन है, कि जो सदा आनंद ही प्रदान करता है। जिस प्रकार रुग्णावस्था में शरीर को रसायन जीवन और आनंद दोनों ही प्रदान करता है, ठीक उसी तरह जो सन्मित्र होता है, वह अपने मित्र को रसायन की तरह लाभ ही लाभ देता है ऐसा मित्र मिल पाना दुर्लभ है।

आगे मित्र के प्रशंसा में भर्तृहरि जी कहते हैं कि-

“क्षीरेणात्मगतोदकायहि गुणा दत्ता पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरोतापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः।

३. लेखक भर्तृहरि, संपादक-डॉक्टर श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी नीतिशतक, चौखंबा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी श्लोक संख्या 75 पृष्ठ संख्या -73

गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी “ ॥^४

जैसा कि दूध और पानी की परस्पर मित्रता एक आदर्श मित्रता मानी जाती है। यह एक ऐसी मित्रता है, जिसमें दूध पानी को अपना ही श्वेत स्वरूप प्रदान करता है, परंतु जब आग पर रखा हुआ दूध और पानी जलने लगता है और जैसे ही दूध उबलता हुआ बाहर आता है, ठीक इस समय साथ ही साथ वह पानी भी अपने इस मित्र के साथ उबलता हुआ बाहर आ जाता है। इसलिए इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, जो सन्मित्र में जो होता है वह विपत्ति में हमेशा उसकी सहायता करता है यही सन्मित्र का उत्तम लक्षण है-

मुझे यहां यह प्रतीत होता है, कि राष्ट्रकवि श्री रामधारी सिंह दिनकर जी भी इन्हीं शास्त्रकारों को पढ़कर उनके दिए हुए मित्र लक्षणों को आत्मसात करते हुए, निःसंदेह कर्ण की मित्रता से प्रभावित होकर, उसकी मित्र भावना से ओत-प्रोत होकर, दिनकर जी ने अपने खंड-काव्य, रश्मिरथी कर्ण की मित्रता की प्रशंसा उन्मुक्त कंठ से की है, जिसे उन्होंने अपने अंतर्मन अत्युन्नत शिखर की तरह संजोये रखा है।

इस अंतर निहित भावना को अपने पात्र कर्ण के वचनों में प्रमाणित करने का पूर्ण प्रयास किया है। महाभारत के युद्ध की विभीषिका के समय श्री कृष्ण-कर्ण और दुर्योधन की मित्रता को प्रमाणित करते हुए कहते हैं-

“रथ से राधे उतर आया, हरि के मन में विस्मय छाया,
बोले कि वीर शतवार धन्य, तुझ सा न मित्र कोई अनन्य।
तू कुरुपति का ही नहीं प्राण, नरता का है भूषण महान ॥”^५

यहां पर दिनकर जी की मित्रमयी भावना को श्री कृष्ण अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए कर्ण की मित्रता की बढ़ाई करते हुए बता रहे हैं, कि- हे कर्ण! तुझ सा कोई अन्य मित्र नहीं हो सकता है, हे कर्ण! तेरी मित्रता और शूरता को शत-शत नमन।

हे कर्ण! तेरी मित्रता की कोई पराकाष्ठा नहीं है। तुम केवल दुर्योधन के मित्र ही नहीं अपितु नर भूषण हो। तुम साक्षात् मित्र रूप में कुरुपति अर्थात् दुर्योधन का प्राण ही हो।

इस कथन से यह प्रमाणित होता है, कि दिनकर जी के पात्र कर्ण की मित्र भावना वास्तविक रूप में दिनकर जी की ही मित्रमयी भावना है। कर्ण की दृष्टि में मित्रता केवल उपकार मात्रा नहीं है, कर्ण की मित्रता उन्मूलन होने के लिए नहीं है, अपितु कर्ण की दृष्टि में मित्रता का अर्थ सर्वस्व अर्पण है-

४. लेखक भर्तृहरि, संपादक- डॉक्टर श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी नीतिशतक, चौखंबा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी श्लोक संख्या 73 पृष्ठसंख्या -76

५. लेखक राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर, संस्करण- 2012 "रश्मिरथी" लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद -01 पृष्ठ संख्या -32

“अपना विकास अवरुद्ध देख, सारे समाज को क्रुद्ध देख,
भीतर जब टूट चुका था मन, आ गया अचानक दुर्योधन,
निश्चल पवित्र अनुराग लिए, मेरा समस्त सौभाग्य लिए ॥”^६

महाभारत काल में जब गुरु द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जी को कर्ण अपना परिचय देने में अपने आप को असमर्थ सा महसूस कर रहा था। तब उस समय उसे इस संकटापन्न अवस्था में कर्ण को कर्ण का परिचय बनकर दुर्योधन उठ खड़ा हुआ।

कर्ण ने देखा कि मेरा अपना कोई परिचय नहीं है। जिससे सारा राजकुल और एकत्रित हुआ समाज उसके प्रति क्रुद्ध दिखाई पड़ रहा है, इस घोर अपमान कल के समय दुर्योधन की उपस्थिति कर्ण का आत्मबल बन जाती है। दुर्योधन ने कर्ण की ओर मित्रता का प्रस्ताव बढ़ाया, जिसका समय और स्थान सच्ची मित्रता को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त था। इसे ही कर्ण ने न मात्र, मित्रता अपितु इसे अपना परम सौभाग्य मानते हुए इस मित्रता का प्रस्ताव स्वीकार किया। यही मित्रता की पराकाष्ठा है।

यहां दिनकर जी की दृष्टि में मित्रता के लिए जाति-पाँति के लिए स्थान नहीं है।

ऊँच- नीच का यहां स्थान नहीं है, यह व्यवहारिक संबंधों से अत्यधिक श्रेष्ठ संबंध है। जिसमें एक मित्र दूसरे मित्र के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए सदा उद्धत रहता है। कर्ण प्रतिपल अलग-अलग ढंग से मित्रता के पक्ष में उन्मुक्त कंठ से कहता है- मित्रता अर्थात् दो शरीर एक प्राण-

“मित्रता बड़ा अनमोल रतन, कब इस तोल सकता है धन?

धरती की तो है क्या बिसात? आ जाय अगर बैकुण्ठ हाथ।

उसको भी न्यौछावर कर दूं, कुरुपति के चरणों पर धर दूं ॥”^७

यहां कर्ण कहता है कि हे मधुसूदन! यह मित्रता भी बड़ी अनमोल वस्तु की ही तरह है, जिसका संपूर्ण ब्रह्मांड में कोई मोल नहीं है। इसे किसी से तोला नहीं जा सकता। धन, धरती और धरती में स्थित रतन से भी इसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता है। हे कृष्ण! मेरी दृष्टि में मित्रता के सामने तो बैकुण्ठ का सुख भी कुछ नहीं है, मैं उस सुख को भी अपने मित्र दुर्योधन पर न्यौछावर करता हूँ। यही वास्तविकता में कर्ण की मित्रता की सच्ची पराकाष्ठा है।

जो दिनकर जी की उदात्त भावनाओं को प्रतिपादित करता हुआ दिखाई पड़ता है। आगे कर्ण भगवान् श्री कृष्ण जी को संबोधित करते हुए कहता है-

“हे कृष्ण! जरा यह भी सुनिये, सच है कि झूठ मन में गुनिये,

६. लेखक राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर, संस्करण- 2012 "रश्मिरथी" लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारीबिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद -01 पृष्ठ संख्या -29

७. लेखक राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर, संस्करण- 2012 "रश्मिरथी" लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारीबिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद -01 पृष्ठ संख्या -30

धूलों में था मैं पड़ा हुआ, किसका सनेह पा बड़ा हुआ,
किसने मुझको सम्मान दिया, नृपता दे महिमावान किया ॥”^८

हेकृष्ण! मित्रता का अर्थ भले ही उपकार न होता हो, परंतु कहीं ना कहीं इस मानवीय व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य अपनी मित्रता और संबंधों से पूर्ण होने के लिए, जिस प्रकार लोक व्यवहार में पितृ ऋण से उन्मूढ होने के लिए पुत्र और्ध्वदैहिक कर्मों की पालना करता है, ठीक उसी तरह हे कृष्ण! आप सुनिए और मुझे बताइए की जो मैं आपसे कह रहा हूँ यह झूठ है या सच, जब मैं अपमान का घूट पी रहा था, जातिवाचक शब्दों से अपमानित हो रहा था। उस समय यह मित्रता का स्नेह किसने दिया, किसने मुझे उस सभा में गुरुमुख के सामने पांडव कुमारों एवं अन्य राजकुमारों के सम्मुख मेरी जाती का त्याग करते हुए दुर्योधन ने मुझे राजोचित सम्मान दिया, इतना ही नहीं मुझे राजपद से अलंकृत भी किया, अब आज इस युद्ध के समय में जब मेरे मित्र दुर्योधन को मेरी आवश्यकता है, तो ऐसी स्थिति में, इस आपदकाल अवस्था में मित्रता का त्याग मेरे लिए मात्र प्राण त्याग ही होगा।

इसलिए मेरे लिए मित्रता से बढ़कर कुछ नहीं है, मैं मित्रता के संबंध को सर्वोपरि मानता हूँ, मित्रता जाति-पाति से ऊपर है। यही मात्र एक ऐसा संबंध है जिसमें कुल, गोत्र, जाति-पाति, ऊँच-नीच, छुआ-छूत के लिए कोई स्थान नहीं है।

यहां पर दिनकर जी ने यह बताने का प्रयास किया है कि-

मित्रता का संबंध संपूर्ण जगत में सर्वोपरि है। मित्रता के सामने समस्त चराचर जगत की पृथ्वी से वैकुण्ठ तक का सब वैभव व्यर्थ है। तुच्छ है, मूल्यहीन है। दिनकर जी के शब्दों में मित्रता वही कर सकता है जिसे त्यागना आता हो। जो वस्तु में नहीं अपितु व्यक्ति में विश्वास रखना जानता हो। जो कृतज्ञ हो। जो कृतघ्नना हो।

उसे ही मित्रता करनी चाहिए। वही सच्चा मित्र हो सकता है। वही इस मित्रता के संबंध को, इस पवित्र बंधन को, पूर्ण मनोयोग से निभा सकता है। मित्रता का अर्थ है - त्याग, सम्मान, अनुराग, स्नेह और आदर देना। मित्रता का यदि कुछ मूल्य हो सकता है, तो वह केवल मित्रता ही हो सकती है।

अंत में कर्ण अपनी मित्रता का मूल्य चुकाने हेतु अपने प्राण न्यौछावर को भी तृण मात्र समझकर, भगवान श्री कृष्ण से कहता है-

“जिस नर की बांह गही मैंने, जिस तरु की छांह गही मैंने,
उसपर वार न चलने दूंगा, कैसे कुठार चलने दूंगा,
जीते जी उसे बचाऊंगा, या आप स्वयं कट जाऊंगा ॥”^९

-
८. लेखक राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर, संस्करण- 2012 "रश्मिरथी" लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारीबिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद -01 पृष्ठ संख्या -28
९. लेखक राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर, संस्करण- 2012 "रश्मिरथी" लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारीबिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद -01 पृष्ठ संख्या -30
-

हे कृष्ण! मैं अपने उस मित्रता को कैसे भूल सकता हूँ, जिसने महाविकट परिस्थिति में मेरे हाथ पकड़ कर, मुझे अपने गले से लगाया हो। जिसने अपनी पहचान देकर इतिहास में मेरी पहचान बनाई हो। मैं अपने इस मित्र पर जरा सी भी आंच नहीं आने दूंगा। मैं भले ही अपने मित्र के लिए अपने आप को स्वयं को मिटा दूंगा, पर अपनी मित्रता को मिटने ना दूंगा।

दिनकर जी के पात्र कर्ण ने मित्रता की एक अद्भुत गाथा लिख दी, जो इतिहास के सुवर्ण पृष्ठों पर हमेशा के लिए अंकित हो गया। यहां कर्ण की मित्र भावना की सीमा ही, दिनकर जी की मित्र भावना की सीमा है। दिनकर जी की दृष्टि में मित्रता संपूर्ण त्रिभुवन, में सबसे पवित्र और सर्वश्रेष्ठ संबंध को अभिव्यक्त करता है, यदि इस त्रिभुवन में किसी वस्तु, व्यक्ति, या संबंध का कोई मूल्य है, या होगा, तो वह केवल और केवल मित्रता का ही होगा, और कुछ नहीं हो सकता। मित्रता का संबंध रक्त संबंध से भी ऊंचा और उन्नत शिखर हिमालय की तरह है। जिसे छुआ नहीं जा सकता। जिसे मिटाया नहीं जा सकता। जिसे चुकाया भी नहीं जा सकता है।

दिनकर जी ने अपने खंड-काव्य रश्मिरथी में मित्रता के पक्ष को बड़ी ही मजबूती के साथ कर्ण के माध्यम से प्रस्तुत किया है। दिनकर जी की मित्रमयी दृष्टि और मित्रता के मूल्य संबंधी दृष्टिकोण, अनुकरणीय हैं, एवं ग्राह्य हैं, अगर मित्रता का वास्तविक मूल्य जानना है तो दिनकर जी के द्वारा रचित खंड-काव्य रश्मिरथी को जानना होगा।

दिनकर जी के मित्र संबंधी विचारों को का सच्चा वाहक उनका पात्र कर्ण है। मित्रता की सच्ची परिभाषा कर्ण की मित्रता ही हो सकती है॥

निष्कर्ष- इस शोध लेख में दिनकर जी की मित्रभावना सर्वत्र दिखाई पड़ती है। यह भी दिखाई देता है, कि दिनकर जी पर पूर्व में मित्र विषयों को लेकर रचित साहित्य का प्रभाव पूरी तरह दिखाई पड़ता है, चाहे वह राम-सुग्रीव की मित्रता हो, या फिर कृष्ण- सुदामा की मित्रता का इन सब के प्रभाव से प्रभावित होकर, उन्होंने इस मित्रता के संबंध से द्रवीभूत हृदय के माध्यम से कर्ण और दुर्योधन की मित्रता के अमर गाथा युगों युगों तक के लिए, अपने खंडकाव्य रश्मिरथी के माध्यम से हम सबके मध्य प्रस्तुत किया है। क्योंकि कोई भी साहित्यकार यदि कुछ लिखता है, तो निःसंदेह उसमें उसके द्वारा पूर्व अर्जित ज्ञान और उस पर अनेक प्रकार के साहित्य ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, दिनकर जी की मित्र भावना भी यहां इसी बात का प्रमाण है।

---O---

पर्यावरणीय पृष्ठभूमि में छायावादी कविता का योगदान

सुनीति त्यागी

शोधार्थी- आई.आई.एम.टी. विश्वविद्यालय, मेरठ

डॉ. पूनम शर्मा

आई.आई.एम.टी. विश्वविद्यालय, मेरठ

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य वर्तमान में पर्यावरणीय समस्याओं का अध्ययन करते हुए छायावादी कविता का पर्यावरण के क्षेत्र में योगदान का मूल्यांकन करना है। इसमें छायावादी कवियों की कविता के माध्यम से पर्यावरणीय समस्या के संबंध में और सुधारों को रेखांकित किया गया है। छायावादी कवियों में पर्यावरण संरक्षण, प्रदुषण से संबंधित समस्याओं का निराकरण और पर्यावरण के प्रति ज्ञानमूलक मनोवृत्ति देखने को मिलती है। जो इस बात को सत्यापित करती है कि छायावादी कवियों का मानना है कि मनुष्य प्रकृति को बिना नुकसान पहुँचाएँ एक आनन्दमयी जीवन व्यतीत कर सकता है। छायावादी पर्यावरणीय चेतना की धारणा को हम आज के संदर्भ में मानव और सृष्टि के लिए कल्याणकारी बना सकते हैं। आज के परिप्रेक्ष्य में प्रदुषण समस्या एक विश्वव्यापी समस्या है। इस समस्या का समाधान हम वर्तमान में छायावादी कविता की पृष्ठभूमि में पर्यावरणीय संरक्षण के महत्व को उद्घाटित करते हुए मानव मात्र से इसके संरक्षण के लिए आह्वान कर सकते हैं। इस शोध के माध्यम से छायावादी युग के विविध पर्यावरण सम्बन्धी स्वरूपों की खोज करना ही प्रमुख उद्देश्य है। छायावादी कवियों के काव्य में समाहित पर्यावरणीय चेतना को जानना एवं छायावादी काव्य का किस प्रकार का योगदान रहा है उसको समझना है। इस विषय का प्रमुख उद्देश्य छायावादी कवियों ने किस प्रकार से अपनी कविताओं के माध्यम से पर्यावरण के प्रति सचेतन की पृष्ठभूमि तैयार की है उसका अध्ययन करना है।

पर्यावरणीय संस्कृति एकाएक उत्पन्न नहीं हुई है, बल्कि हमारी प्राचीन सभ्यता जो इतने युगों से पर्यावरण से जुड़ी रही यह उसी का योगदान है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के ऋषि-मुनियों ने वृक्ष, जल, भूमि इत्यादि को स्वयं से बढ़कर माना है। उनका मानना था कि हमारा शरीर पंचतत्वों से मिलकर बना है अगर हम एक भी महाभूत को पूरी तरह से नष्ट कर देते हैं तो उसका दूषित प्रभाव हमारे जीवन पर भी जरूर होगा। इसलिए प्राचीनकाल में मानव ने अपने जीवन के संरक्षण के लिए पर्यावरण के साथ अपने संबंध स्थापित किए मानव और प्रकृति का समन्वय तब से आज तक चला आ रहा है। पर्यावरण की शुद्धता के लिए वेदों में अनेकशः शान्ति की कल्पना एवं कामनाएँ की गई हैं। शुक्ल यजुर्वेद कहता है- ‘द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरौषधयः शान्तिः.....’^१ अर्थात् पर्यावरण के प्राकृतिक पंचतत्वों की शान्ति वेदों में पर्यावरण की अवधारणा को स्पष्ट करती है। इस पर्यावरण को

१. शुक्ल यजुर्वेद 36.17

संतुलित रखने के लिए जिन देवताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है उनमें- सूर्य, वायु, वरुण एवं अग्नि की स्तुति भी वेदों में की गई है- ‘शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।’^२ ऋग्वेद में सातवें मण्डल का 35 वाँ सूक्त विश्वदेव को अर्पित किया गया है, जिसमें सभी देवताओं से शान्ति की कामना की गई है तथा अथर्ववेद में भी दिव्य, पार्थिव और जलीय देवों से कल्याण की कामना स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। ऋग्वेद का दसवें मण्डल का एक सम्पूर्ण सूक्त वनदेवता के लिए लिखा गया है। इसे अरण्यानी सूक्त नाम से भी संज्ञित किया जाता है- ‘आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् । प्राह मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥’^३ पर्यावरणीय समस्याओं के निवारण के लिए अथर्ववेद कहता है- ‘गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिविस्योनमस्तु ।’^४ वैदिक ऋषि की कामना है कि वृक्ष, वनस्पतियाँ और औषधियाँ मधुमय, हितकारी तथा शान्तिदायक हों- ‘मधुमान्नो वनस्तिः’^५ इसी प्रकार यजुर्वेद में ‘सुमित्रियाः न आप ओषधयः सन्तु ।’^६ तथा ‘माहवीर्नःसन्त्वोषधीः ।’^७ वेदों में पर्यावरण की रक्षा के लिए वृक्षों को अभिवादन योग्य बताया है- ‘नमो वृक्षेभ्यः’^८, ‘औषधीनां पतये नमः’^९, ‘नमो वन्याय च ।’^{१०} ‘अरण्यानां पतये नमः’^{११} साथ ही यदि महाभारत का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि महाभारत महाकाव्य भी पर्यावरण का पूर्णरूपेण पोषक रहा है। पर्यावरण की महत्ता को महाभारत में भी पर्याप्त सम्मान प्रदान करते हुए कहा गया है। ‘दशकूप समो वापी दशवापी समो हृदः । दश हृदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः ॥’ अर्थात् दश कूपों के समान एक वापी होती है, दस वापी के समान एक सागर, दस सागरों के समान एक पुत्र और दस पुत्रों के समान एक वृक्ष होता है। अर्थात् जो महत्त्व हमारे जीवन में एक पुत्र का है उससे दस गुणा महत्त्व हमारे जीवन में वृक्ष का है। इस तथ्य को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जितना कष्टसाध्य एक पुत्र का पालन-पोषण है, जितना महत्त्वपूर्ण एक व्यक्ति के जीवन में उसकी तर्पण सम्बन्धित प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए है। उससे दस गुणा कष्टसाध्य एक वृक्ष का पालन पोषण करना तथा महत्त्व भी दस गुणा है। अतः हमें अपने जीवन में पर्यावरण रक्षा के लिए पौधों का अधिक से

-
२. अथर्ववेद 12.1.30
 ३. ऋग्वेद 10.146.6
 ४. अथर्ववेद 12.1.11
 ५. ऋग्वेद 1.10.8
 ६. यजुर्वेद 36.23
 ७. यजुर्वेद 13.27
 ८. यजुर्वेद 16.17
 ९. यजुर्वेद 16.19
 १०. यजुर्वेद 16.34
 ११. यजुर्वेद 16.21

अधिक रोपण, संरक्षण करना चाहिए, जिससे पर्यावरण स्वच्छ एवं सुखद सिद्ध हो। पर्यावरण का प्रमुख घटक पृथिवी है। पृथिवी शब्द का प्रयोग 196 उपनिषदों^{१२} में 113 बार हुआ है।^{१३} ब्रह्मसूत्र में यद्यपि पृथिवी शब्द का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से एक बार^{१४} ही किया गया है परन्तु समस्तपद के रूप में अनेकशः पृथिवी शब्द का प्रयोग करके ब्रह्मसूत्र एवं गीता^{१५} भी पृथिवी की महनीयता को प्रकट करता है।

मानव सभ्यता की प्रगति के साथ, प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग भी बढ़ा है। जल, वायु, भूमि, वन और खनिज मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं, लेकिन इनका अत्यधिक उपयोग पर्यावरणीय समस्याएँ उत्पन्न कर रहा है। इसके परिणामस्वरूप जल स्रोतों का अव्यावसायिक उपयोग और जल प्रदूषण बढ़ा है। वायु प्रदूषण भी एक गंभीर समस्या बन गया है, जिसका मुख्य कारण औद्योगीकरण और वाहनों का अत्यधिक उपयोग है। इन प्रदूषकों के कारण स्वास्थ्य समस्याएँ, जलवायु परिवर्तन, और ओजोन परत में छिद्र जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। इन संसाधनों का अत्यधिक उपयोग और अव्यावसायिक प्रबंधन पर्यावरणीय संकट उत्पन्न कर रहे हैं। वनों की कटाई और शहरीकरण के कारण जल पुनर्भरण की प्रक्रिया बाधित हो रही है, जिससे सूखा और जल संकट जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। वेद पर्यावरण के संरक्षण के लिए कहते हैं कि भूमि जिसकी पादस्थानीय है और अन्तरिक्ष उदर के समान है तथा द्युलोक जिसका मस्तक है उन सबसे बड़े ब्रह्मा को नमस्कार है। वृक्ष या वनस्पतियाँ पृथिवी की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने तथा वर्षा कराने में सहायक होते हैं। अतः वनस्पतियों के बढ़ाने की बात की गई है।^{१६}

मानव और पर्यावरण एक दूसरे के पूरक है। जहाँ प्रकृति है वहाँ मानव है और जहाँ मानव है वहाँ प्रकृति है। हिंदी साहित्य में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक प्रकृति को एक विशेष स्थान दिया गया है। मानव हमेशा से ही प्रकृति का संरक्षण और उसके प्रति सचेत रहा है चाहे वह वैदिक काल हो या छायावादी कवियों का काव्य हों। छायावाद आधुनिक काल का ही भाग है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छायावाद को दो अर्थों में माना है उनके अनुसार “छायावाद एक रहस्यवाद के अर्थ में और दूसरा काव्यशैली विशेष के रूप में माना गया है। छायावाद की महान कवियत्री महादेवी वर्मा ने छायावाद को प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ कहा है। प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत के मतानुसार “छायावाद के प्रति जब प्रकृति का सूक्ष्म किंतु बहुत ही सुंदर आध्यात्मिक भान छायावाद की सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है।

१२. डॉ. ज्ञान प्रकाश शास्त्री एवं डॉ. विजय कुमार त्यागी, औपनिषदिक पदानुक्रम कोषः प्रथम भाग, संकेताक्षरसूची के आधार पर

१३. डॉ. ज्ञान प्रकाश शास्त्री एवं डॉ. विजय कुमार त्यागी, औपनिषदिक पदानुक्रम कोषः द्वितीय भागः

१४. डॉ. ज्ञान प्रकाश शास्त्री एवं डॉ. विजय कुमार त्यागी, प्रस्थानत्रयीपदानुक्रमकोषः, पृष्ठ संख्या 364

१५. श्रीमद्भगवद्गीता 1.19

१६. अथर्ववेद 10.17.32, यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुदोतरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

छायावाद में प्रकृति-चित्रण हिंदी काव्य का एक स्वर्ण युग है, जहाँ प्रकृति केवल पृष्ठभूमि ही नहीं, वरन् एक जीवित सत्ता के रूप में, सहचरी बनकर और कवियों की आत्मीय भावनाओं के साथ जुड़कर उनकी संवाहक बनी है। जिसमें सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, और निराला जैसे कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण करके प्रकृति के अलौकिक सौंदर्य और सूक्ष्म रूप के भावनात्मक चित्रण को प्रस्तुत किया है। इन सभी कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से छायावाद को एक नई परिभाषा दी और छायावाद को समृद्ध करने का कार्य इन सभी कवियों ने सकुशल किया है। जिसकी झलक हमें इनकी रचनाओं में देखने को मिलती है। इनकी रचनाओं में देशप्रेम, आशा-निराशा, विरह वेदना, रहस्यानुभूति, नारी का विभिन्न रूपों में चित्रण, के साथ प्रकृति चित्रण में सभी कवियों में एक अन्यतम प्रवृत्ति दिखाई देती है।

छायावादी काव्य में प्रकृति के सर्वाधिक आकर्षक लौकिक तथा अलौकिक रूपों का चित्रण किया गया है। छायावादी हिन्दी साहित्य के रोमांटिक उत्थान की वह काव्य धारा है, जो लगभग ई. स.1918 से 1936 तक की प्रमुख युगवाणी रही। छायावाद के नामकरण का श्रेय मुकुटधर पांडेय को जाता है। मुकुटधर पांडेय ने श्री भारदा पत्रिका में एक निबंध प्रकाशित किया जिस निबंध में उन्होंने इस शब्द का प्रथम बार प्रयोग किया था। छायावादी कवियों ने हिन्दी के नए शब्द, प्रतीक तथा प्रतिबिंब दिए हैं, जिसने आधुनिक काल के दौर में गद्य की भाषा को भी समृद्धि प्रदान की है।

जयशंकर प्रसाद के मतानुसार “छायावाद एक शाश्वत सौंदर्यवाद की प्रवृत्ति है जो युगानुरूप भाषा भौली एवं विचारधारा को लेकर प्रकट हुई है। यह भारतीय परम्परा में अद्भुत है”। छायावाद के स्वच्छदतावाद को प्रकृति चित्रण की वजह से ही समझा जा सकता है। छायावादी कवियों ने प्रकृति को अनेक रूपों में चित्रण किया है। छायावादी कवियों ने प्रकृति को आलंबन के रूप में, उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया है। जयशंकर प्रसाद जी को छायावाद का भगीरथ कहा गया है। उनके काव्य में प्रकृति के विविध रूप देखने को मिलते हैं। प्रकृति का मानवीकरण उनके काव्य का मुख्य आधार रहा है। प्रसाद जी के काव्य में कालिदास जैसा ही प्रकृति का कोमल चित्रण और मधुर रूप को प्रस्तुत किया गया है। वही दूसरी ओर भवभूति जी की तरह उनके काव्य में कहीं-कहीं उग्र रूप के भी दर्शन होते हैं। इसलिए प्रसाद जी अपनी इस विलक्षण प्रतिभा और अनंत कल्पना के कारण प्रकृति में मानवीकरण के क्रिया-व्यापारों के कोमल एवं कठोर भावों को चित्रित करने में पूर्णतः सफल रहे हैं। प्रथम प्रभात नामक कविता में उनकी प्रकृति चेतना देखी जा सकती है। प्रथम प्रभात का पहला छंद में प्रकृति के प्रति उनकी विवेचना, पक्षी, गगन, सभी तत्वों को समर्पित है- “मनोवृत्तियाँ खग कुल सी थी सो रही / अन्तः करण नवीन मनोहर नीड़ में / नील गगन सा भ्रान्त हृदय भी हो रहा / बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही / विश्व विमल आनन्द भवन सा बन रहा / मेरे जीवन सा वह प्रथम प्रभात था ॥”^{१७}

इस कविता के माध्यम से कवि प्रातः कालीन परिदृश्य का सीधे-सीधे अंकन कर रहे हैं। बाह्य और आन्तरिक प्रकृति का वर्णन कविता में संजोया गया है। यहाँ प्रातः कालीन अनुभूति के साथ उसके आने से जो

भी परिवर्तन का भास होता है वह सभी इस कविता के माध्यम से वर्णन किया गया है। निराला के तुलसीदास का मन चित्रकूट की प्रकृति का परिचित रूप देखकर असीम उन्मुक्त आकाश में उड़ चलता है। प्रकृति तुलसीदास के भावुक हृदय में पंख लगा देती है। निराला जी ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है- “वह उस शाखा का वन-विहंग / उड़ गया मुक्त नभ-निस्तरंग / छोड़ता रंग पर रंग, रंग पर जीवन”^{१८}

ये पंक्तियाँ निराला जी कविता तुलसीदास से है। इस कविता के माध्यम से निराला जी ने तुलसीदास के अध्ययन, मानसिक संघर्ष के आदि के साथ-साथ प्रकृति दर्शन और जिज्ञासा की एक मनोवैज्ञानिक समस्या बतायी है। तुलसीदास की कथा पर उन्होंने यह एक लंबी कविता लिखी है। जिसका मुख्य कारण यह है कि इस कथा में ऐसी बहुत सी बातें हैं जो जन साधारण की दृष्टि से ओझल रही। इस कविता में वर्णन है कि तुलसीदास एक दिन अपने मित्रों के साथ चित्रकूट घूमने जाते हैं, वहाँ प्रकृति देख उन्हें बोध होता है कि किस प्रकार चेतना का स्पर्श नहीं पाने से जैसे सब जड़वत् सा हो गया है। प्रकृति से उन्हें संदेश मिलता है जड़ से चेतन की ओर बढ़ने का अर्थ यह है कि आप रात्री के अंधेरों से निकल कर दिन के उजालों की खोज कर रहे हैं। प्रकृति के मनोरम दृश्य इस कविता के माध्यम से अत्यन्त रूप से स्पष्ट हुए हैं। निराला जी अपनी कविता में ओजगुण के लिए प्रसिद्ध हैं। निराला जी की कविताओं का क्षेत्र नवीन है। काव्य के माध्यम से मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण करना उनका ध्येय रहा है।

द्विवेदी युग के पश्चात हिन्दी कविता में छायावाद का प्रादुर्भाव हुआ। द्विवेदी युग की कविता उपदेशात्मक और इतिवृत्तात्मकता पर आधारित थी इसके विरुद्ध विद्रोह करते हुए कल्पना प्रधान, भावोन्मेषयुक्त कविता रच कर काव्य को नई दिशा प्रदान हुई। छायावादी कवियों में सुमित्रानंदन पंत को प्रकृति का सुकुमार कवि कहा गया है। छायावाद को प्रकृति में चेतना के आरोप के रूप में पहचान मिली है। अभी तक कवियों ने प्रकृति को अपने अपने दृष्टिकोण से देखा था। परन्तु पंत जी ने प्रकृति को अपनी निरपेक्ष दृष्टि से देखा। जिस प्रकृति को जड़ समझा गया और जड़ता की परिभाषा दी गई पंत जी ने उस प्रकृति में अपने काव्य के माध्यम से चेतना भर दी। पंत जी के काव्य संग्रह वीणा से लेकर कला और बूढ़ा चाँद तक उनके अधिकांश ग्रंथ प्रकृति के प्रेम में ही लिखे गए हैं। वीणा काव्य संग्रह में छाया, अंधकार, सरिता, निर्झर, लता आदि पर छोटी-छोटी कविताएँ पायी जाती हैं। सुमित्रानंदन पंत ने प्रकृति को सजीव मानकर उससे अनेक प्रकार के प्रश्न करके खुद को संतुष्ट किया है। पंत जी वीणा काव्य में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा भावना लेकर आए, और बाद में इसी जिज्ञासा के कारण प्रकृति के गुणों पर मुग्ध हो गए और प्रकृति का अनुकरण करने लगे। जो ग्राम्य काव्य संग्रह में संकलित है।

“तितली, पक्षी, पुष्प वर्ग इसके प्रमाण हैं जीवित।

हृदय नहीं इस सुंदरताके, भावोन्मेष न मन में,

अंगों का उल्लास न चिर रहता, कुम्हलाता क्षण में!

हुआ सृष्टि में बुद्ध हृदय जीवों का तभी पदार्पण

जड़ सुंदरता को निसर्ग कर सका न आत्म समर्पण,
मानव उर में भर ममत्व जीवों के जीवन के प्रति
चिर विकास प्रिय प्रकृति देखती तब से मानव परिणति”^{१९}

उनकी कविता में सौंदर्य, कोमलता, कल्पनाशीलता और प्रकृति का अनूठा मिलन देखने को मिलता है। यही सौंदर्यनाद उनकी कविता सौंदर्य कला में देखने को मिलती है।

महादेवी वर्मा ने निजी अनुभूतियों को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया है। जैसे “मैं नीर भरी दुख की बदली” इनके लिए प्रकृति की प्रत्येक छवि विस्मयोत्पादक बन जाती है। वह प्रकृति पर विमुग्ध होकर रहस्यात्मकता की ओर उन्मुख हो जाता है। प्रकृति महादेवी जी के लिए शृंगार की वस्तु है, और प्रियतम की ओर संकेत करने वाली सहचरी भी हैं। प्रकृति की नीर भरी उन्हे प्रिय लगती है। अपने निजी भावना के अन्तर्मन से भी वह प्रकृति को देखती है। प्रकृति के प्रति उनमें एक शिशु जैसा आकर्षण देखने को मिलता है। जिसके लिए वह कौतूहल रहती है इसलिए यही कारण महादेवी जी अपने जीवन के हर क्षण चाहे वह उदासी हो या खुशी हो प्रकृति के चित्रण के साथ जीना चाहती है।

मैं नीर भरी दुख की बदली

निष्कर्ष- इस प्रकार से हम देखते हैं कि छायावादी कवियों ने प्रकृति का चित्रण अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है। संसार में दुख और वेदना को लेकर छायावादी कवि पलायनवादी भी हुआ है। वह इस संसार से ऊब चुका है, और कही जाना चाहता है और यही सहारा उसको प्रकृति की गोद में मिलता है। यहाँ कवि को सर्वत्र सुख ही सुख दृष्टिगोचर होता है। वैदिक युग में जीवन की प्रगति और पर्यावरण को वैचारिकता के स्तर पर देखते थे, किन्तु आधुनिक युग में हम भौतिकता के आधार पर प्रगति और पर्यावरण की सीमा तय करते हैं। कहते हैं कि अगर आपके भाव और विचार में सौन्दर्य और शुद्धता हो तो आपकी अभिव्यक्ति में भी एक उज्ज्वलता दिखती है। छायावादी काव्य में इन्हीं सब के दर्शन होते हैं। अन्त में हम कह सकते हैं कि छायावादी कवियों में लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम, प्रकृति के माध्यम से संदेश देते हुए प्रकृति के सौन्दर्य को बनाए रखने और उसके प्रति दृष्टिकोण बदलने का साहस किया है।

---O---

मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में आस्तिक दर्शनों की भूमिका

ज्योति

शोधार्थी- श्री गुरुराम राय विश्वविद्यालय, देहरादून (उत्तराखण्ड)

आज प्रत्येक व्यक्ति मानसिक रूप से अस्त-व्यस्त दिखाई देता है। प्रत्येक ही दौड़-धूप करते हुए व्यवसाय के लिए, अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए, पूँजी जमा करने के उपायों के लिए, खूब धन एकत्रित करने के लिए, धन एकत्रित कर लिया तो उसे संरक्षित रखने के लिए, इत्यादि व्यवस्थाओं, चिन्ताओं में इधर-उधर भटकता है और मानसिक रूप से अस्वस्थ होकर और अधिक दुःख का अनुभव करते हुए एक दिन जीवन त्याग देता है। इस समस्या का निदानपूर्वक समाधान यदि कहीं है तो वह शास्त्र है दर्शनशास्त्र। जिसमें आत्मा, परमात्मा, अनात्मा, मन, ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि को स्पष्ट करके समस्त समस्याओं का समाधान उपस्थित कर दिया है।

भारतीय संस्कृति^१ एवं सभ्यता को वैश्विक स्तर पर उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कराने में दर्शनशास्त्र का विशेष योगदान है। किसी भी तथ्य के सत्य तक पहुँचने के लिए दर्शनशास्त्र को माध्यम बनाया जाता है। दर्शन^२ शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के धातुपाठ के अनुसार ‘दृश्’ धातु से हुई है जिसका अर्थ ‘देखना’ होता है। ‘दृश्यते ज्ञायते विचार्यते अनेन इति दर्शनम्’ इस परिभाषा का भाव है कि जिसके द्वारा देखा जाए, साक्षात्कार किया जाए, उसे दर्शन कहते हैं।

आङ्ग्ल भाषा में दर्शन^३ का अनुवाद Philosophy शब्द के माध्यम से किया जाता है। यह शब्द फिलास+सौफिया= फिलॉसोफी के योग से बना है। फिलॉस का अर्थ है ‘प्रेम’ और सौफिया शब्द ‘ज्ञान’ के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, इसका अर्थ हुआ वह शास्त्र जिसके द्वारा ज्ञान के प्रति अनुराग हो फिलॉसोफी कहलाता है। विद्वानों ने दर्शन के विषय में अपने-अपने मत भिन्न-भिन्न प्रकार से रखे हैं। अशोक मानक हिन्दी शब्दकोष में दर्शन की व्याख्या करते हुए कहा गया है- ‘वह विद्या जिस शास्त्र में आत्मा, परमात्मा, प्रकृति और जीवन के अन्तिम लक्ष्य का विवेचन होता है, वही दर्शन है जिसे तत्त्वज्ञान भी कहा जाता है।’^४ भारतीय दर्शनशास्त्रियों ने केवल दर्शन की यही परिभाषा दी है कि जिसके द्वारा देखा जाये वही दर्शन है किन्तु कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने दर्शन की महत्वपूर्ण परिभाषाएँ दी हैं जिनमें से कुछ मुख्य परिभाषाओं का वर्णन करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो कहते हैं

१. समुपसर्गपूर्वककृञ् धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से संस्कृति शब्द बनता है।
२. दृश्यते ज्ञायते विचार्यते अनेन इति दर्शनम्।
३. दृश्+ल्युट्= दर्शनम्।
४. भारद्वाज, शिवप्रसाद शास्त्री, अशोक मानक हिन्दी शब्दकोष, पृष्ठ 319

कि 'दर्शनशास्त्र का उद्देश्य अनन्त का तथा वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है।'^५ अरस्तु के अनुसार- 'दर्शन वह विज्ञान है जो परमतत्त्व के यथार्थ स्वरूप की खोज करता है।'^६ भारतीय मनीषि एवं प्रख्यात दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन दर्शन की परिभाषा में कहते हैं- 'दर्शनशास्त्र यथार्थता के स्वरूप का तार्किक ज्ञान है।'^७

यह दर्शन की प्रक्रिया भारतीय एवं पाश्चात्य भेद से दो प्रकार की है। भारतीय दर्शनशास्त्र के पुनः दो भेद आस्तिक और नास्तिक हुए। आस्तिक दर्शनों की संख्या 6 होने के कारण एक संज्ञा षड्दर्शन भी प्रसिद्धा है। ये छः दर्शन हैं- 1. न्यायदर्शन(महर्षि गौतम), 2. वैशेषिकदर्शन(महर्षि कणाद), 3. साङ्ख्यदर्शन(महर्षि कपिल), 4. योगदर्शन(महर्षि पतञ्जलि), 5.मीमांसादर्शन(महर्षि जैमिनी), 6. वेदान्तदर्शन(महर्षि वादरायण)। इन षड्दर्शनों की ईश्वर में आस्था ही आस्तिकता का मापक है। नास्तिक दर्शनों के अन्तर्गत मुख्य रूप से 1. जैनदर्शन(महावीर), 2. बौद्धदर्शन(महात्मा बुद्ध), 3. चार्वाकदर्शन(चार्वाक) को ग्रहण किया जाता है।

प्रायः आस्तिक षड्दर्शनों की मुख्य विषयवस्तु को सन्दर्भ में अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि साङ्ख्यदर्शन सृष्टि के 25 संख्यायुक्त तत्त्वों पर विस्तार से चर्चा करने के कारण साङ्ख्यदर्शन कहलाया। साङ्ख्य के अन्य मुख्य सिद्धान्तों में सत्कार्यवाद, परिणामवाद, प्रकृति, गुण, परिणाम, प्रकृति और विकृति, पुरुष, जीव, त्रिविध ताप, बन्ध, मोक्ष आदि हैं।

साङ्ख्यदर्शन के अनुसार ही साम्यता रखने वाला दर्शन योगदर्शन है, जिसके प्रमुख सिद्धान्त सत्कार्यवाद, 25 तत्त्वों के साथ ही ईश्वर, चित्तभूमियाँ, योगमार्ग, अष्टाङ्गयोग, समाधि के प्रकार तथा कैवल्य आदि हैं।

दर्शन शब्द की पारिभाषिक कसौटी पर उत्तम ठहरने वाला न्यायदर्शन प्रमा, अप्रमा, प्रामाण्यवाद, कारण का स्वरूप, जगत्, जीवात्मा, मोक्ष और ईश्वर तत्त्वों की सम्पुष्ट व्याख्या करता है।

वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद प्रमाण, पदार्थ, द्रव्य, द्रव्यभेद, परमाणुवाद, आकाश, दिक् और काल, मनस्, जीवात्मा, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, मोक्ष तथा परमात्म तत्त्व की विस्तार से तथा सूत्रात्मक शैली में विवेचना करते हैं।

५. Philosophy aims at a knowledge of eternal and essential nature of things- Plato

६. Philosophy is the science which investigates the nature of being as it is in.- itself - Aristotle

७. Philosophy is a logical enquiry into the nature of reality. - Radhakrishnan

शास्त्रों की विभिन्न समस्याओं जैसे- प्रमा, प्रामाण्यवाद, पदार्थ, आत्मा का स्वरूप, मोक्ष आदि बिन्दुओं पर मीमांसादर्शन प्रकाश डालता है तो ब्रह्म, जीव, प्रकृति, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, बन्ध, मोक्ष, चैतन्य, सत्कार्यवाद, सृष्टि तथा जगत् की मिथ्यता और ब्रह्म की सत्यता का व्याख्यान वेदान्त दर्शन करता है।

चार वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, विभिन्न शास्त्र तथा दर्शनों में निहित विषयवस्तु में मनस् तत्त्व की अनेकशः चर्चा हुई है। मन तत्त्व के संज्ञानात्मक, भावात्मक और व्यावहारिक ये तीन प्रकार के घटक हैं। अमरकोष नामक ग्रन्थ में मन को चित्त का पर्यायवाची मानते हुए चित्तम्, चेतः, हृदयम्, स्वान्तम्, हृत्, मानसम् तथा मनः ये सात नाम बताये हैं।^८ दर्शन शास्त्र में मन को उभयेन्द्रिय अर्थात् कर्मेन्द्रिय भी और ज्ञानेन्द्रिय भी माना गया है। कतिपय स्थानों पर बन्धन और मोक्ष का कारण भी मन ही है।^९ अतः इस मन के विकारों को दर्शन की दृष्टि से समझ कर दूर कर देना चाहिए तथा मानसिक स्वास्थ्य का लाभ लेना चाहिए। मानसिक स्वास्थ्य की अवधारणा इस लिए और भी अधिक प्रबल हो जाती है क्योंकि स्वस्थवृत्त कहता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है। षड्वर्णनों में अनेक स्थानों पर मानसिक स्वास्थ्य हेतु लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि को दूर करने के उपाय बताकर मानसिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ करने के उपाय बताये हैं। यदि विभिन्न ऐतिहासिक कथाओं का अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होता है कि संवेदना, अवधान, रुचि, अधिगम, अभिप्रेरणा, चेतना, स्मृति, विस्मृति, चिन्तन, कल्पना, सृजनात्मकता, समस्या-समाधान, भाव, संवेग, बुद्धि, व्यक्तित्व आदि मनोवैज्ञानिक तत्त्वों माध्यम से मानसिक स्वास्थ्य सुदृढ़ अवस्था को प्राप्त होता है। इसके विपरीत काम, क्रोध, मोह, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, भय, अभिमान आदि मनोविकार मन को रुग्णावस्था प्रदान करते हैं। इसके ठीक विपरीत सेवा, पूजा, दया, क्षमा, धैर्य, शौच, परोपकार, सत्सङ्ग, प्रेम, सन्तोष, तप आदि मनस्थिति को नीरोगी बनाकर मनोविकास में सहायक होते हैं।

अध्ययन की आवश्यकता को ध्यान में रखते ‘मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में दर्शनों की भूमिका’ विषय पर शोधपरक दृष्टिपात करना है, जिससे समाज में दृष्टिगत होने वाली अनेक रोगियों की मानसिक विकृतियों को दूर किया जा सकता है।

‘शरीरमाद्यं खलुधर्मसाधनम्’ अर्थात् यह शरीर सर्वप्रथम धर्म का साधन है। यदि शरीर ही विकृत अथवा रोगी होगा तो धर्म की साधना असम्भव है। यही शरीर मन का भी आधार है। कहा गया है कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन निवास करता है। दर्शन क्या है? दर्शन के भेद-उपभेद कितने और कौन-कौन-से हैं? षड्वर्णनों की क्या विशेषताएँ हैं? षड्वर्णनों की क्या विषयवस्तु है? मन क्या है? षड्वर्णनों में मन का स्वरूप, घटक एवं मनोविकारों के विषय में क्या तथ्य प्राप्त होते हैं? जिनको जानकर मन को स्वस्थ रखा

८. सिंह, अमर, अमरकोषः 1.4.31, चित्तं चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।

९. अमृतबिन्दूपनिषद् 6.34, मन एवमनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

जा सकता है। षड्वर्षीयों में मानसिक स्वास्थ्य की क्या अवधारणा है? आदि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस क्षेत्र में विभिन्न शोधपरक ग्रन्थों का अध्ययन किया गया।

इस शोधपत्र को जनमानस के लिए और उपयोगी बनाने हेतु गवेषणात्मक अध्ययन किया गया। विषय की गम्भीरता का ज्ञान तब हो जाता है जब सम्बन्धित विषयों पर विभिन्न विश्वविद्यालयों में विभिन्न विभागों में कतिपय शोध दृष्टिगत होते हैं। जैसे- गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के संस्कृत विभाग के शोधार्थी प्रभुशरण आर्य द्वारा लिखित शोधग्रन्थ ‘संस्कृत नीति-कथासाहित्य में मनोविज्ञान’ (2017) विषय पर मानसिक स्वास्थ्य की स्थिति को सुनिश्चित करता है। साथ ही मन, मनोविकार, मनोविकास, मनोवैज्ञानिक तथ्यपूर्ण सामग्री से युक्त है। योगविज्ञान विभाग (गु.कां.वि.वि. हरिद्वार) के शोधार्थी श्री किरण कुमार आर्य ने ‘भारतीय षड्वर्षीयों में योगतत्त्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन’ विषय पर शोधकार्य किया, जिसमें भारतीय दर्शन आस्तिक विचारधारा से युक्त षड्वर्षीयों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त) में निहित योगतत्त्वों को स्पष्ट करते हुए मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धित तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा योगाभ्यास को महत्त्व प्रदान किया है। महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय चित्रकूट के मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग से श्री भारतभूषण सिंह ने डॉ. जितेन्द्र शर्मा के निर्देशन में दर्शनशास्त्र विषय में ‘श्वेताश्वतरोपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता का योगशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययन’ (2016) शीर्षक पर शोधकार्य किया जिसमें दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण करते हुए कर्मसिद्धान्त, आचार शिक्षा आदि विषयों को स्पष्ट करते हुए योग के माध्यम से मानसिक स्वास्थ्य को उद्दिष्ट किया गया है। योगशास्त्र के शोधार्थी पवित्रा (2009) द्वारा महर्षि दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों के आलोक में ‘श्रीमद्भगवद्गीता का समीक्षात्मक अध्ययन’ विषय पर अध्ययन किया गया। योगशास्त्र के शोधार्थी विशम्बर सिंह रंजन (2013) द्वारा ‘श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भगवत् पुराण में भक्ति योग : एक समीक्षात्मक अध्ययन’ किया गया। भक्ति के माध्यम से मानसिक स्वास्थ्य के तत्त्वों पर दृष्टिपात किया। संस्कृत के शोधकर्ता, अंतिम श्रीवास्तव, श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित सामाजिक मूल्यों का अध्ययन (2013) द्वारा समाज के सभी वर्गों की जीवन शैली, उनके आदर्शों और व्यवहारिक रुचियों के विषय में भी यह पूर्ण पर्याप्त सामग्री देती है तथा अपनी प्रस्तुति के माध्यम से समाज को एक दशा भी देती है। इसी के साथ यह पुराण पुराने राजवंश का चरित्र चित्रण कर एक प्रकार से प्राचीन इतिहास की एक विशेष शैली की झलक भी देती है। इसलिए यह कहना उचित है कि इस पुराण का सामान्य संदर्भ में पर्याप्त महत्त्व है। संस्कृत के शोधकर्ता, अमित कुमार पांडेय, ‘श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तियोग: एक समीक्षात्मक अध्ययन’ (2014), भक्ति एक प्राकृत अनुभूति मात्र नहीं हैं। यह एक तेजस्विनी चिन्मयी शक्ति है। इस शक्ति के प्रभाव से भगवान भी वशीभूत हो जाते हैं। या शक्ति ही विश्व की परम सत्य शक्ति है। रिसर्च आर्टिकल, गायत्री गोवेंद्र और अमृत गोवेंद्र, ‘श्रीमद्भगवद्गीता में तनाव प्रबंधन’ (2017), श्रीमद्भगवद्गीता की उच्च यौगिक प्रक्रिया समस्त मानसिक समस्याओं के यथार्थ उपचार में समर्थ है इसमें

अचेतन ग्रन्थियों का समन होता है तथा मानसिक स्वास्थ्य का प्रबल होना सिद्ध होता है। ओरिजिनल रिसर्च आर्टिकल, अनुराग जयसवाल, श्रीमद्भगवद्गीता का यज्ञ दर्शन एक विवेचनात्मक अध्ययन (2020) के अनुसार हमारे कर्म, क्रिया से ऊपर उठकर सृष्टि के हितों के साथ जुड़े, इसके लिए हमें कर्म को योग्य बनाना आवश्यक है जिससे हमारा कर्म, यज्ञ की अवधारणा को स्पर्श कर सके और मानवीय चेतना का विस्तार हो सके, यज्ञ को कर्मयोग से संबंध जोड़कर सिखाया कि मानव जो कुछ करता है वह सब यज्ञ के लिए ही करता है। मनोरोग की ब्रिटिश पत्रिका, आरती दत्ता, 'मनश्चिकित्सा और भगवद्गीता' (2021), निष्कर्ष वह प्रवचन है जो भगवान् कृष्ण और अर्जुन के बीच सुनिश्चित करता है कि एक अभ्यस्त मानसिकता को आगे बढ़ाने के लिए एक ढाँचा प्रदान करता है, जो शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य दोनों के लिए प्रयास करता है। अतः निष्कर्षरूप में विषय के विस्तारभय को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि वास्तव में मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में आस्तिक दर्शनों की भूमिका महनीय है। निरन्तर दर्शनों का अध्ययन ही मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखता है और मनोरोगों का निवारण करते हुए मनोविकास में अहम् भूमिका निभाता है।

---O---

महाभारत में ज्ञानयोग की अवधारणा

सरला जोशी

शोधार्थी- श्री गुरु राम राय विश्वविद्यालय, पटेलनगर, देहरादून (उत्तराखण्ड)

हम सभी भारतवासी सनातन राष्ट्र की कल्पना मात्र ही नहीं अपितु नित्य जीवनचर्या में भारतवर्ष की संस्कृति एवं संस्कारों को धारण करते हैं। उक्त कथन का अस्तित्व मात्र ज्ञान पर ही आधारित है। बिना ज्ञान के संस्कार, संस्कृति, सनातन, प्राचीन, अर्वाचीन आदि की अवधारणाएँ व्यर्थ ही हैं। अपने इस शोधपत्र के शीर्षक के रूप में हमने समस्या कथन के अन्तर्गत ‘महाभारत में ज्ञानयोग की अवधारणा’ शीर्षक का चयन किया है। समस्या जितनी जटिल होती है उसकी आवश्यकता की अवधारणा और अधिक बढ़ जाती है।

महाभारत की महत्ता- महाभारत में जीवन की अनेक समस्याओं शङ्काओं का समाधान उपस्थित है। कहा गया है- ‘यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्’^१ अर्थात् जो महाभारत में वही सर्वत्र अन्यत्र है और जो महाभारत में नहीं है वह कहीं भी नहीं है। यह सूक्ति महाभारत की महत्ता को कई गुणित वृद्धि प्रदान करती है। महाभारत एक ऐसा काव्य है जो अपने बृहदाकार के लिए विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ है। भारतीय ऐतिहासिक साहित्य में महाभारत का एक विशेष स्थान है। प्रायः सभी महाभारत के इतिहास एवं गौरव से परिचित तथा प्रभावित हैं। जिस प्रकार आदिकाव्य की ख्याति महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण को प्राप्त है उसी प्रकार महर्षि वेदव्यास द्वारा विरचित महाभारत को सबसे बृहद् आकारयुक्त महाकाव्य की ख्याति प्राप्त है, जिसे 100000(एक लाख) श्लोकों की संख्या होने के कारण शतसाहस्री की संज्ञा प्राप्त है परन्तु यहीं पर इसकी महानता का मानक सिद्ध होकर विराम को प्राप्त नहीं करता। विद्वानों का मत है कि वेदव्यास जी ने साठ लाख श्लोकों की संहिता का निर्माण किया था। यद्यपि साठ लाख श्लोकों से युक्त संहिता वर्तमान में उपलब्ध नहीं अपितु शतसाहस्री अर्थात् एक लाख श्लोकों से युक्त संहिता महाभारत सर्वसुलभ है एवं गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित सर्वमान्य है। महाभारत महाकाव्य की उपयोगिता को उसकी विविध संज्ञाएँ स्पष्ट करती हैं। महाभारत के विकास क्रम में महाभारत की तीन संज्ञाएँ हैं, जो विद्वानों द्वारा जय, भारत और महाभारत के रूप में सर्वमान्य है। आदिपर्व में कहा है- ‘अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते। आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥’^२ अर्थात् जैसे भोजन किये बिना नहीं रहा जा सकता, वैसे ही इस पृथ्वी पर कोई भी ऐसी कथा नहीं है जो इस महाभारत का आश्रय लिये बिना प्रकट हुई हो। अर्थात् सभी का आधार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से महाभारत ही है। महाकाव्य के रूप में प्रसिद्ध महाभारत एक ऐसा बृहदाकार काव्य है जो लौकिक साहित्य में सर्वाधिक बृहद् है। कोई भी कवि इसके अध्ययन के बिना अधूरा कवि है, हास्य का पात्र-सा है। सभी श्रेष्ठ कवि इस महाभारत की कथा का आश्रय लेते हैं और लेते रहेंगे। ठीक वैसे ही, जैसे उन्नति चाहने वाले सेवक श्रेष्ठ स्वामी

१. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 1.62.53

२. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 1.2.388

का सहारा लेते हैं। जैसे शेष तीन आश्रम उत्तम गृहस्थ आश्रम से बढ़कर नहीं हो सकते, उसी प्रकार संसार के कवि, पाठक, साधक, योगी, चिन्तक महाभारत को अपना आधार एवं विचार उद्गम का स्थान स्वीकार करते हैं।

जैसा कि सर्वविदित ही है कि महाभारत ग्रन्थ के मुख्य विषय परब्रह्मस्वरूप वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण जी महाराज हैं। उन्हीं का महाभारत में विशेष रूप से आदिपर्व में संकीर्तन किया गया है। वे ही सत्य, ऋत, पवित्र एवं पुण्य हैं। आदिपर्व के प्रथम अध्याय का अध्ययन करने से तथा धर्मपरायण पुरुष श्रद्धा के साथ सर्वदा सावधान रहकर प्रतिदिन सेवन करने से, वह पाप-ताप से मुक्त हो जाता है।^३

ज्ञानयोग एक महत्त्वपूर्ण एवं जटिल विषय है, जिसका अध्ययन हम आप्त वचन और आप्त पुरुष के माध्यम से ही कर सकते हैं। अतः पूर्व में योग को समझना अनिवार्य है। योग की अवधारणा प्रत्येक योग ग्रन्थ के रचनाकार योगगुरु, योगाचार्य ने अपने रचित ग्रन्थों में स्पष्टरूप से अङ्कित करने का प्रयत्न किया है। अष्टाङ्गयोग को अपने सूत्रों का आधार बनाने वाले महर्षि पतञ्जलि ने ही नहीं अपितु महायोगी शिव, ऋषि घेरण्ड, गुरु गोरखनाथ, स्वात्माराम मुनि आदि सभी ने अपने ग्रन्थों में योग के उद्देश्यों को अपने योग-विधान से निष्पन्न किया है।

जहाँ तक महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन की बात है, वह चित्त की वृत्तियों का निरोध यानि समाधि है।^४ वहीं वे यह भी कह देते हैं कि इस योग (समाधि) का परम उद्देश्य कैवल्य या मोक्ष है।^५ इसी प्रकार योगाङ्गों के सन्दर्भ में भी कहा है कि इनका उद्देश्य ज्ञान का प्रकाश, विवेकख्याति तक होता है।^६ अन्य स्थानों पर भी जैसे विभूतिपाद में (धारणा, ध्यान, समाधि) इस संयम योग के^७ द्वारा प्रज्ञालोक^८ होकर अनेक विभूतियों की प्राप्ति हो सकती है। महर्षि पतञ्जलि योग के उद्देश्य को बहुत व्यापक अर्थों में ले जाते हैं। वे अपने सूत्रों के द्वारा योग के अन्तर्निहित उद्देश्यों को बताते हुए मनुष्य की समस्त शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक व्याधियों का निराकरण भी कर देते हैं। उनके यम-नियम^९ मानव की आधारसंहिता के द्योतक हैं, जो मनुष्य के पूर्ण उत्थान में सहायक हैं। उनके द्वारा कथित अभ्यास और वैराग्य का सूत्र^{१०} मनुष्य को निष्क्रिय न बना कर सक्रिय बनाता है, साथ ही उनका निम्न सूत्र

३. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 1.1.261, 'श्रद्धाधानः सदा युक्तः सदा धर्मपरायणः। आसेवन्निममध्यायं नरः पापात् प्रमुच्यते ॥'
४. पातञ्जल योगदर्शन 1.2, योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
५. पातञ्जल योगदर्शन 4.34, पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तेरिति ॥
६. पातञ्जल योगदर्शन 2.28, योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥
७. पातञ्जल योगदर्शन 3.4, त्रयमेकत्र संयमः।
८. पातञ्जल योगदर्शन 3.5, तज्जयात्प्रज्ञालोकः।
९. (क) पातञ्जल योगदर्शन 2.30, अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (ख) पातञ्जल योगदर्शन 2.32, शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
१०. पातञ्जल योगदर्शन 1.12, अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

जिसमें कहा है कि सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा तथा पापात्मा (जीवौ) के विषय में क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता (प्रसन्नता) और उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न (निर्मल) होता है।^{११} के द्वारा मनुष्य सकारात्मक विचारों में प्रवृत्त होता है। वह निषेधात्मक प्रवृत्तियों से बचता है। क्रियायोग तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान का उद्देश्य^{१२} व्यक्ति में श्रद्धा, विश्वास के बीज अङ्कुरित करता है। ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास पतञ्जलि ऋषि के योग का मुख्य बिन्दु है।

गीता में कृष्ण जो जो दुःख-संयोग वियोग^{१३} कहते हैं, वह संसार के दुःख से दूर करना ही है इसी प्रकार इसे आत्मयोग^{१४} कहकर इसका उद्देश्य अपनी आत्मा का उद्धार बताते हुए भक्तियोग के द्वारा जो साधक अपनी समस्त इन्द्रियों की क्रियाओं को ईश्वर में समर्पित कर देता है, वह मुक्त हो जाता है। सत्सङ्गति, प्रमाण एवं युक्तियों द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्षप्रदायक ज्ञान के साधन का उपाय।^{१५} योग का यौगिक शब्दावली में अर्थ है ‘चित्तवृत्तियों का निरोध यानि उनका रोकना’ योग है।^{१६} इसी प्रकार योग के अनेक निर्वचन प्राप्त होते हैं; जैसे गीता में कहा है कि ‘समत्वं योग उच्यते।’^{१७} ‘योगः कर्मसु कौशलम्’^{१८} कर्मों में कुशलता ही योग है। इस प्रकार विविध अर्थों से युक्त योग के प्रकार कहे जा सकते हैं।

‘योग शब्द युज् धातु से निष्पन्न हुआ है। धातु पाठ में योग शब्द के लिए दो धातुएँ प्राप्त होती हैं- युजिर् योगे और युज् समाधौ। युजिर् योगे धातु से निष्पन्न योग शब्द सामान्य सम्बन्ध का वाचक है किन्तु युज् समाधौ धातु से निष्पन्न योग शब्द ही यहाँ ग्रहण करने योग्य हैं, जिसका अर्थ है समाधि। व्यास जी भी अपने भाष्य में ‘योगः समाधिः’ कहकर योग को समाधि का पर्याय स्वीकार करते हैं। तत्त्ववैशारदी में भी योग शब्द की व्युत्पत्ति इसी धातु से मानी गयी है। यथा- युज् समाधौ इत्यस्मात् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो न तु युजिर् योगे इत्यस्मात् संयोगार्थ इत्यर्थः। इस प्रकार ‘युज् समाधौ’ अर्थात् समाधि शब्द ही स्वरूपावस्थान का द्योतक है।

इसी सन्दर्भ में अनेक योग-ग्रन्थ एवं विद्वानों के विचार भी योग के अर्थगाम्भीर्य पर प्रकाश डालते हुए उसे अपने अनुरूप परिभाषित भी करते हैं। यथा लिङ्गपुराण में पातञ्जल के समान ही चित्तवृत्ति निरोध को ही योग माना है।^{१९} स्कन्दपुराण में जीवात्मा-परमात्मा के अपृथक्त्व को ही योग कहा है।^{२०} इसी प्रकार उपनिषदों में भी योग पर

११. पातञ्जल योगदर्शन 1.33, मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥

१२. पातञ्जल योगदर्शन 2.1, तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

१३. महाभारत, भीष्मपर्व 6.23, तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

१४. महाभारत, भीष्मपर्व 10.18, विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।

१५. सिद्धसिद्धान्तपद्धति 5.22, योगः सन्नहनोपायो ज्ञानसंगतियुक्तिषु ॥

१६. पातञ्जलयोगदर्शन 1.2, योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

१७. महाभारत, भीष्मपर्व 2.48

१८. महाभारत, भीष्मपर्व 2.50

१९. लिङ्गपुराण 8, योगो निरोधो वृत्तेस्तु चित्तस्य द्विजसत्तमः ॥

२०. स्कन्दपुराण 29, जीवात्मपरमार्थोऽयमविभागः परन्तप। स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव ॥

विस्तृत विचार किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में मन और बुद्धि को परमात्मा में लगाना ही योग कहा गया है।^{२१} कठोपनिषद् का कथन है कि इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग है।^{२२} त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कहा है कि ‘जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् “मैं ब्रह्म हूँ” इस स्थिति तक पहुँच जाना ही समाधि (योग) है। इसमें सब वृत्तियों का समापन हो जाता है।^{२३} मैत्रायण्युपनिषद् में प्राण, मन व इन्द्रियों का एक होना यानि एकाग्रता प्राप्त कर लेना, बाह्य वृत्तियों या विषयों से विमुख होकर इन्द्रियों का मन में और मन का आत्मा में लग जाना व प्राण का निश्चल हो जाना योग है।^{२४} योग याज्ञवल्क्य में कहा है कि जीवात्मा और परमात्मा के संयोग की अवस्था का नाम ही योग है।^{२५}

जगद्गुरु श्रीकृष्ण तीर्थ जी महाराज योग को साधन के रूप में मानते हुए विचार अभिव्यक्त करते हैं कि नारायण के साथ नर के एक हो जाने के लिए सनातन धर्म में जो साधन या साधन सामग्री बतलायी है, उसी का नाम है संस्कृत में योग। ‘युजिर् योगे’ इस धातु के आगे ‘कर्तरी घञ्’ प्रत्यय लगाने से व्युत्पन्न होने वाले ‘योग’ शब्द का अर्थ है मेल और ‘करणे घञ्’ लगाने पर उसका अर्थ मिलाने वाला होता है। अर्थात् नर-नारायण संयोग रूपी लक्ष्य भी ‘योग’ शब्द का अर्थ है और उन दोनों को एक करने वाली साधन सामग्री का नाम भी ‘योग’ है। क्रियात्मक दृष्टि से रूढ़ि में तो साधन का ही नाम ‘योग’ है।^{२६}

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी लिखते हैं कि “आर्ष वैद्यक में औषध- योजना को ‘योग’ कहते हैं। ज्योतिष शास्त्र में ग्रहों के योग को भी ‘योग’ कहा जाता है। गणित शास्त्र में भी ‘योग’ है। इस तरह देखा जाए तो योग के बिना कोई शास्त्र नहीं है। यह बात स्पष्ट हो जाएगी। योग की व्यापकता यहाँ तक है कि ‘वियोग’ में भी ‘योग’ की आवश्यकता है, फिर ‘संयोग’ में आवश्यकता है- यह कहने की तो आवश्यकता ही क्या है? इस तरह भारतीय ऋषि मुनियों ने तथा तपस्वियों ने योग का मानव जीवन के साथ अटूट सम्बन्ध देखा और अनुभव किया। इस समय में भी प्रत्येक व्यक्ति को इस सम्बन्ध का अनुभव करना चाहिए।^{२७}

पं. श्री बदरीदास जी पुरोहित अपने लेख में लिखते हैं कि योग क्या है? आजकल ‘योग’ शब्द का रूढ़ार्थ ‘प्राणायाम आदि साधनों से चित्तवृत्तियों या इन्द्रियों का निरोध करना अथवा पातञ्जल सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग है। कठोपनिषद् की छठी वल्ली के ग्यारहवें मन्त्र में भी इसी अर्थ का प्रयोग हुआ है। जैसे- “तां योगमिति मन्यन्ते

२१. श्वेताश्वतरोपनिषद् 214, युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो निश्चितः ।

२२. कठोपनिषद् 2.3.11

२३. त्रिशिखि उपनिषद् 2.161, 162, जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि । अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥ समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ॥

२४. मैत्रायण्युपनिषद् 6.25, एकत्वप्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च । सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते ॥

२५. योग याज्ञवल्क्य 1.44, संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ॥

२६. योगाङ्क, पृष्ठ 7

२७. योगाङ्क, पृष्ठ 206

स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाम्ययौ।” परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की भगवद्गीता में यही अर्थ विवक्षित नहीं है। ‘योग’ शब्द ‘युज्’ धातु से बना है, जिसका अर्थ ‘जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र, अवस्थिति इत्यादि होता है और ऐसी स्थिति प्राप्ति के उपाय, साधन, युक्ति या कर्म को भी योग कहते हैं। वे ही सब अर्थ अमरकोष में इस तरह से दिये हुए हैं- ‘योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गति-युक्तिषु।’^{२८}

श्री ज्ञानानन्ददेव जी के अनुसार योग नामक लेख में योग एक प्रकार की शक्ति है, जिस शाक्त के प्रभाव से जीवात्मा परमात्मा के साथ युक्त होता है। जीवात्मा-परमात्मा को युक्तावस्था का नाम अध्यात्मयोग है। अध्यात्मयोग अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।^{२९}

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही कहा जा सकता है कि योग शब्द का अर्थ अपने आप में व्यापक अर्थों का द्योतक है। साधारण तौर पर तथा शास्त्रीय भाषा में भी योग शब्द का अर्थ मेल अथवा जोड़ना है। पारिभाषिक भाषाओं में योग उस दर्शन शास्त्र को कहते हैं जिसका ध्येय है जीवात्मा या व्यष्टिचेतन का परमात्मा या समष्टि चेतन के साथ अथवा यूँ कहिए कि जीव का ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करना।

योग की अवधारणा के साथ-साथ यदि योग की विभिन्न परिभाषाओं के विषय में अध्ययन करें तो सबसे प्रामाणिक परिभाषा के रूप में महर्षि पतञ्जलि ने ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’^{३०} कहा है। उनके अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरुद्धीकरण ही योग कहलाता है प्रकृति और पुरुष का अपृथक् स्वरूप ही योग के रूप में स्वीकार किया गया है।^{३१} महर्षि वेदव्यास जी ने ‘योगः कर्मसु कौशलम्’ कह कर योग का मानक निश्चित करते हुए कर्म को महत्त्व दिया है। यदि पुराणों का अध्ययन किया जाये तो स्कन्ध पुराण में जीवात्मा के द्वारा परमार्थस्वरूप की प्राप्ति ही योग है।^{३२} अग्निपुराण के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध करके ब्रह्मज्योति ज्ञान का भाव चित्त में स्थिर होना तथा जीव का ब्रह्मस्वरूप हो जाना ही योग है।^{३३} लिङ्गपुराण के अनुसार जब चित्तवृत्तियों का निरोध करके द्विज उत्तम गति को प्राप्त हो जाता है, इस स्थिति को योग कहते हैं।^{३४}

महाभारत में अनेक स्थानों पर ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है। ज्ञानयोग को साधना की परम्परा में सर्वोच्च कहा जाता है। योगसिद्धान्त की यह मान्यता रही है कि ज्ञानयोग के द्वारा ही सर्वोच्च पद की प्राप्ति की जा

२८. योगाङ्क, पृष्ठ 218

२९. योगाङ्क, पृष्ठ 274

३०. महर्षि पतञ्जलि, योगदर्शन 1.2

३१. महर्षि पतञ्जलि, योगदर्शन 1.3, ‘पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तशक्तिः ॥’

३२. स्कन्धपुराण 291, ‘जीवात्मपरमार्थोऽयमविभागः परन्तपः। स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव ॥

३३. अग्निपुराण 183.1-2, ‘ब्रह्म प्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता। चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनो परः ॥’

३४. लिङ्गपुराण 8, ‘योगोनिरोधो वृत्तेस्तु चित्तस्य द्विजसत्तमाः ॥’

सकती है। महाभारत में साङ्ख्ययोग को भी ज्ञानयोग कहा गया है।^{३५} वेदान्त में विहित ज्ञानतत्त्व की साधना ही ज्ञानयोग के नाम से प्रसिद्ध है। क्योंकि आत्मा की अद्वैतसिद्धि ज्ञानयोग का मूल मन्त्र है। इसके अनुसार आत्मा ही ज्ञानस्वरूप, नित्य शुद्ध बुद्ध है। आत्मा आनन्दस्वरूप व कूटस्थ है। आत्मा ही ब्रह्म है, एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म के अतिरिक्त इस संसार में और कुछ भी दूसरा नहीं है। यह जगत् प्रपञ्च उसी अद्वितीय ब्रह्म से आविर्भूत होकर उसी में लीन होता है अर्थात् जगत् प्रपञ्च उसी एक तत्त्व में प्रलय को प्राप्त होता है।^{३६} महाभारत में युधिष्ठिर का भीमसेन से हिडिम्बा के वध से रोकते समय एक प्रसंग में एक श्लोक आता है जिसका अर्थ स्पष्ट रूप से ज्ञानयोग की ओर संकेत करता है। वहाँ कहा गया है कि ‘आप लोगों को कल्याण की बात बता रही हूँ। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर एक उत्तम सरोवर है। आप लोग आज वहाँ जाकर उस सरोवर में स्नान करके वृक्ष के नीचे विश्राम करें। कुछ दिन बाद कमलनयन व्यास जी का दर्शन पाकर आप लोग शोकमुक्त हो जायेंगे। दुर्योधन के द्वारा आप लोगों का हस्तिनापुर से निकाला जाना, वारणावत नगर में जलाया जाना और विदुर जी के प्रयत्न से आप सब लोगों की रक्षा होनी आदि बातें उन्हें ज्ञानदृष्टि से ज्ञात हो गयी हैं।’^{३७} यह प्रसंग स्पष्ट रूप से ज्ञानयोग की महत्ता का मानक है।

ज्ञानयोगः^{३८} शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसा कि पूर्व में भी कहा गया है कि ज्ञान का सम्बन्ध आप्त पुरुष अथवा आप्त ग्रन्थों से मुख्य रूप से है। अर्जुन के लिए कृष्ण आप्त पुरुष के रूप में सिद्ध ही हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं- ‘क्रोधो बलं तथा वीर्यं ज्ञानयोगोऽस्त्रलाघवम्। इह ते दृश्यतां पार्थ युद्धयस्व पुरुषो भव ॥’ अर्थात् पार्थ! यहाँ लोग तुम्हारे क्रोध, बल, वीर्य, ज्ञानयोग और अस्त्र चलाने की फुर्ती आदि गुणों को देखें। युद्ध करो और अपने पुरुषत्व का परिचय दो। श्लोक में स्पष्ट रूप से ज्ञानयोग शब्द का प्रयोग करके महाभारत के ज्ञानयोग की पराकाष्ठा समाज से लेकर युद्धक्षेत्र तक स्पष्ट करने का प्रयास श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

ज्ञानयोगपरः^{३९}, ज्ञानयोगम्^{४०}, ‘ज्ञानयोगव्यवस्थितः’^{४१} कह कर महर्षि वेदव्यास ने ज्ञानयोग को स्पष्ट निर्देशित किया। ‘ज्ञानयोगस्य’^{४२} शब्द का प्रयोग महाभारत में देखने को मिलता है। यह शब्द ज्ञानयोग शब्द में षष्ठी विभक्ति का एकवचन का रूप है, जिस कारक के माध्यम से सम्बन्ध को निर्दिष्ट किया जाता है, जिसका अर्थ होता है-

-
३५. महर्षि वेदव्यास, महाभारत, भीष्मपर्व 13.24
 ३६. डॉ. त्रिलोकचन्द, पातंजल और श्री अरविन्द योग, पृष्ठ
 ३७. महर्षि वेदव्यास, महाभारत आदिपर्व 154.15(5), ‘धार्तराष्ट्राद् विवासश्च दहनं वारणावते। त्राणं च विदुरात् तुभ्यं विदितं ज्ञानचक्षुषा ॥
 ३८. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 5.160.92, “
 ३९. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 12.222.1(43)
 ४०. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 13.124.1(5)
 ४१. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 6.40.1
 ४२. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 12.201.1

ज्ञानयोग का। ज्ञानयोगे^{४३}, ज्ञानयोगेन^{४४} शब्द का प्रयोग महाभारत में स्पष्ट रूप से सात स्थानों पर किया गया है। जो करण कारक का रूप है, जिसका अर्थ साधन के अर्थ में स्पष्ट है। श्रीभगवान् कहते हैं- ‘लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम् ॥’^{४५} अर्थात् हे निष्ठाप! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा कही गयी हैं। उनमें से सांख्ययोगियों की निष्ठा ज्ञानयोग से तथा अन्य योगियों की निष्ठा कर्मयोग से होती है। यहाँ पर ज्ञान का महत्त्व स्पष्ट कर दिया है। महाभारत के आदिपर्व में ज्ञानयोगेन शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है- ‘वसिष्ठश्च महाभागः सर्वमेतदवैक्षत। ज्ञानयोगेन महता तपसा च परंतप ॥’^{४६} अर्थात् शत्रुसूदन अर्जुन! महाभाग वसिष्ठ जी अपनी बड़ी भारी तपस्या तथा ज्ञानयोग के प्रभाव से सब बातें जानते थे। यहाँ पर श्रीकृष्ण ने सर्वज्ञता के साधन के रूप में ज्ञानयोग को महत्त्व दिया है। वन पर्व में ज्ञानयोगेन शब्द का प्रयोग करते हुए श्लोक में कहा है- ‘तुल्यनिन्दास्तुतिर्भूत्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः। ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह ॥’^{४७} अर्थात् उनकी दृष्टि में निन्दा और स्तुति समान हो गयी है। वे मिट्टी के डेले, पत्थर और सुवर्ण को समान समझने लगे हैं और विशुद्ध ज्ञानयोग के द्वारा नित्य ध्यान में तत्पर रहने लगे हैं। यहाँ पर जीवात्मा परमात्मा के ऐक्य भाव जैसी स्थिति साधक को अनुभव होती है, जिसका मुख्य साधन ज्ञानयोग है।

विषयविस्तार के भय से अधिक चर्चा को विराम। इस शोधपत्र में इतना ही कहना पर्याप्त है कि महाभारत हमारी भारतीय ज्ञान परम्परा का एक अद्भुत एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में समाज को सही दिशा प्रदान करने वाले सभी बिन्दुओं पर महर्षि वेदव्यास ने पर्याप्त मात्रा में चर्चा की है। इस ग्रन्थ में ज्ञानयोग की भी विस्तृत चर्चा प्राप्त हुई है, जो योग का साधन है। उदाहरण के रूप में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को ज्ञान प्रदान कर अर्जुन को अवसाद से मुक्त कराना और कर्म करने की शिक्षा प्रदान करना रहा है। अतः महाभारत में ज्ञानयोग की अवधारणा विषय समाज के लिए उपयोगी होगा, ऐसी मेरा कामना है।

---O---

४३. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 12.301.13

४४. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 1.181.23, 3.261.46, 6.27.3, 11.26.20, 12.301.62, 12.301.72, 12.334.42

४५. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 6.27.3

४६. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 1.181.23

४७. महर्षि वेदव्यास, महाभारत 3.261.46

चार्वाकदर्शन में प्रमाणमीमांसा

सोनालि राउत

शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

कुनालि राउत

परास्नातक छात्रा, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

शिवांगी

शोधच्छात्रा, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

भारतीय सभ्यता का वैचारिक आधार दर्शन रहा है, जिसने न केवल आध्यात्मिकता अपितु तर्क और अनुभव की दिशा भी तय किया है। भारतीय दर्शन केवल ज्ञान की एक शाखा नहीं, अपितु जीवन जीने की समग्र दृष्टि रहा है। यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक दर्शन चाहे आस्तिक हो या नास्तिक जीवन और ज्ञान के प्रश्नों पर अपना अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और किसी भी दर्शन को पूर्ण रूप से समझने के लिए तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा तीन प्रमुख विभागों का ज्ञान आवश्यक होता है। यह तीनों दर्शन की आधारशिलाएँ हैं, जिनके बिना किसी भी दार्शनिक प्रणाली की गहराई को समझ पाना सम्भव नहीं है। इनका अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि सत्य क्या है, सत्य को कैसे जाना जाए, किस प्रकार उसके प्रमाण स्थापित किए जाएँ और उस सत्य का स्वरूप क्या है, अन्ततः हमें क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये। इनमें से प्रमाण मीमांसादर्शन का वह अङ्ग है जो यह निर्धारित करता है कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति किन उचित और यथार्थ साधनों से होती है। प्रमाणमीमांसा को 'ज्ञानमीमांसा' कहा जाता है क्योंकि यह दर्शन ज्ञान की प्राप्ति के साधनों और उनके प्रमाण की समीक्षा और विवेचन करता है। यह 'प्रमाण' अर्थात् ज्ञान के साधनों का विश्लेषण करता है, जैसे- प्रत्यक्ष (अनुभव), अनुमान (तर्क), उपमान (सादृश्य), शब्द (श्रुति या प्रामाणिक वचन) आदि। प्रत्येक दर्शन अपनी मान्यताओं के अनुसार प्रमाणों की संख्या और उनका स्वरूप निर्धारित करता है। प्रमाण विचार करने से पहले मन में प्रश्न आता है, क्या है यह प्रमाण और उसका स्वरूप क्या है? विविध शास्त्रों में प्रमाण के विविध लक्षण दिये गये हैं। यथा- 'कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्'^१ अर्थात् जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान से बाधित न होएवं दोषरहित हो, वही 'प्रमाण' है। 'प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः।'^२ प्रमाण वह साधन जिससे 'प्रमा' अर्थात् यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

१. पाथर्सारिथ मिश्र कृतशास्त्रदीपिका-१.१.५., पृ०सं०-१७८

२. न्यायसूत्र; १।१।३। पृ०सं०-१४

‘प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।’^३ जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं। ‘प्रमाकरणं प्रमाणं।’^४ प्रमा यथार्थ ज्ञान है जिसके करण को प्रमाण कहते हैं।

चार्वाक दर्शन में प्रमाण मीमांसा-

चार्वाक का सम्पूर्ण दर्शन उसके प्रमाणविचार पर आधारित है। इस प्रमाण के आधार पर उन्होंने पृथ्वी, आप, अग्नि और वायु यह चार तत्त्व मानते हैं और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ प्रमाण के साधन हैं। प्रमा के करण रूप में प्रमाण की सत्ता प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं, परन्तु प्रमाणों की संख्या में मतभेद है-

प्रमाण तालिका										
	प्रत्यक्ष	अनुमान	उपमान	शब्द	अर्थापत्ति	अनुपलब्धि	सम्भव	ऐतिह्य	चेष्टा	परिशेष
चार्वाक	✓									
बौद्ध	✓	✓								
वैशेषिक	✓	✓								
जैन	✓	✓		✓						
सांख्य	✓	✓		✓						
योग	✓	✓		✓						
न्याय	✓	✓	✓	✓						
प्रभाकर	✓	✓	✓	✓	✓					
कुमारिलभट्ट	✓	✓	✓	✓	✓	✓				
वेदान्त	✓	✓	✓	✓	✓	✓				
पौराणिक	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓		
तात्त्विक	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓	✓

प्रत्यक्ष प्रमाण-

चार्वाक अथवा लोकायत नास्तिक दर्शन ने भारतीय दर्शनपरम्परा में मानव की बौद्धिक चेतना को अत्यन्त प्रभावित किया है। यह दर्शन मूलतः भौतिकवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है तथाप्रत्यक्ष प्रमाणको ही ज्ञान का एकमात्र प्रामाणिक स्रोत स्वीकार करता है। चार्वाकों के अनुसार वही ज्ञान सत्य और विश्वसनीय है, जो इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध हो।^५ आज के वैज्ञानिक, तर्कप्रधान और अनुभव-आधारित युग मेंजब मानव समाज अन्धविश्वास, अन्धानुकरण तथा मिथ्या आस्थाओं से संघर्ष कर रहा है, तब चार्वाक की यह विचारधारा पुनः विशेष रूप से प्रासङ्गिक प्रतीत होती है।प्रत्यक्ष हीएकमात्र ऐसा प्रमाण है जो सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। महर्षि गौतम के अनुसार –

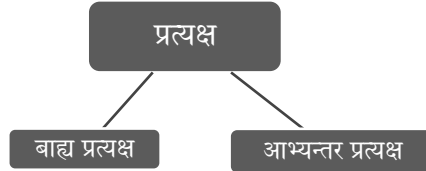
३. गौतम,न्यायसूत्र;वात्स्यायनमुनिकृतभाष्य; पृ० सं०-१५

४. अन्नम्भट्टकृततर्कसंग्रह;डा० दयानन्द भार्गव; पृ० सं०-८५

५. प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। सर्वदर्शनसंग्रह;चार्वाक दर्शन; पृ० सं०-४

‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्’^६। अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान जो अशाब्द, भ्रम रहित और निश्चयात्मक हो वही प्रत्यक्ष है। योग दर्शन टीका में वाचस्पति मिश्र ने कहा है- ‘तत्र सकल प्रमाणमूलत्वात् प्रथमतः प्रत्यक्षं लक्षयति’^७। अर्थात् प्रत्यक्ष सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है क्योंकि अन्य प्रमाण भी अपनी सिद्धि के लिये प्रत्यक्ष पर ही निर्भर हैं।

अतः प्रत्यक्ष निर्विवाद रूप से यथार्थ ज्ञान है। प्रत्यक्ष से दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ का ही अस्तित्व है। प्रत्यक्ष का अर्थ होता है जो आँखों के सामने हो। इस अर्थ को लेकर आरम्भ में चार्वाक आँख से देखने को ही प्रत्यक्ष कहते थे। परन्तु बाद में प्रत्यक्ष के इस संकीर्ण प्रयोग को उन्होंने अनुचित समझा। इसलिए प्रत्यक्ष को वह ज्ञान कहा गया जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त हो। यथा- चक्षु से रूप का, श्रोत्र से शब्द का, जिह्वा से स्वाद का, घ्राण से गन्ध का और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के लिए तीन बातों का रहना आवश्यक है- (1) इन्द्रिय (2) पदार्थ (3) सन्निकर्ष। यदि इन्द्रियाँ न हों, तो ज्ञान की सम्भावना ही नहीं रहती। चक्षु के अभाव में रूप का, श्रोत्र के बिना शब्द का तथा रसना के बिना स्वाद का ज्ञान असम्भव है। इसी प्रकार यदि इन्द्रिय और पदार्थ उपस्थित हों, परन्तु उनके बीच सन्निकर्ष न हो, तो भी प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं होता। अतः इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है और यह दो प्रकार का होता है -



बाह्य प्रत्यक्ष वह होता है जिसमें पञ्चज्ञानेन्द्रिय द्वारा केवल वर्तमान काल वस्तु का ज्ञान होता है और आभ्यन्तर प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रिय के अधीन होता है जिसमें मनरूपी अन्तरिन्द्रिय द्वारा सुखदुःखादि का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने के फलस्वरूप चार्वाकदर्शन में अन्य प्रमाणों का खण्डन हुआ है। यह खण्डन प्रत्यक्ष की महत्ता को बढ़ाने में सहायक है।

अनुमान प्रमाण का खण्डन- चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानता है। यहाँ यह जानने से पूर्व कि अनुमान की अप्रामाणिकता को चार्वाक कैसे सिद्ध करता है, यह जानना आवश्यक है कि अनुमान क्या है? अनुमान शब्द दो शब्दों से बना हुआ है- ‘अनु’ और ‘मान’। ‘अनु’ का अर्थ पश्चात् और ‘मान’ का

६. गौतम, न्यायसूत्र; १/१/४ पृ० सं०-१६

७. वाचस्पतिमिश्रकृत; योगटीका; पृ० सं०-११

८. बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि। सांख्यतत्त्वकौमुदी; कारिका-२६, पृ० सं०-१८८

९. इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानप्रत्यक्षम्। तर्कसंग्रह; डॉ० राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर; पृ० सं०-९१

अर्थ ज्ञान होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान का पश्चात् ज्ञान अनुमान है। अनुमान में प्रत्यक्ष के आधार पर अप्रत्यक्ष का ज्ञान होता है। यथा -आकाश में मेघ को देखकर वर्षा होने का अनुमान किया जाता है। इस अनुमान के व्यतीत पर्वत पर धूम को देखकर अग्नि का होने का अनुमान किया जाता है। आकाश में मेघ का रहना तथा पर्वत पर धूम का रहना हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान है। जिसके आधार पर वर्षा तथा अग्निके अप्रत्यक्ष ज्ञान का बोध होता है। इस प्रकार के अप्रत्यक्ष ज्ञान को अनुमान कहा जाता है।

अनुमान करने के लिये मुख्य तीन वाक्य होती है -

१.साध्य(प्रतिज्ञावाक्यम्)- पर्वतः वह्निमान्।

२.हेतु- धूमवत्त्वात्।

३.व्याप्ति- यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः।

पर्वत पर वह्नि है कि नहीं वहाँ जाकर प्रत्यक्ष से ही पता चलता है। सम्भावना (अनुमान) से यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। चार्वाकों ने पूर्वपक्षी पर आक्षेप उठाते हैं कि आपने वर्तमान कालिक धूम और वह्नि के ज्ञान से त्रैकालिक धूम और वह्नि को तो नहीं जाना है तो उसका ज्ञान कैसे हो सकता है? अनुमान को मानने वाले लोग हेतु मानते हैं जो व्याप्ति विशिष्ट तथा पक्षधर्मता वाला हो। अर्थात् धूम (हेतु) वह्नि के साथ साहचर्य नियम (व्याप्ति) में हो और धूम पर्वत (पक्ष) पर होना जरूरी है और वह व्याप्ति दोनों उपाधि से रहित होना चाहिये। जहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये चक्षु का सत्तामात्र होना चाहिये उसके ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। चक्षु यहाँ पर सहायक अङ्गमात्र है। परन्तु वहाँ आपका अनुमान के लिये व्याप्ति का सत्तामात्र की आवश्यकता नहीं अपितु उसकी ज्ञान की आवश्यकता है। तो फिर वह व्याप्ति क्या है और उसकी ज्ञान का उपाय क्या है ?

व्याप्ति- व्याप्ति नाम- “साहचर्यनियमो व्याप्तिः”^{१०} अर्थात् दो वस्तुओं में ऐसा सम्बन्ध हो कि एक के भाव में दूसरे का भाव हो (तत् सत्त्वे तत् सत्वम्) तथा एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव हो (तदभावे तदभावम्), तो दोनों वस्तुओं का सम्बन्ध स्वाभाविक या अविनाभाव समझा जाता और यह हेतु और साध्य के मध्य साहचर्य नियम होती है जैसे-धूम और अग्नि का सम्बन्ध जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। यहाँ धूम और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध है। यह व्याप्ति शङ्कित और निश्चित उपाधि से रहित सम्बन्ध होता है। चार्वाक का कहना है कि अनुमान को संशयरहित तभी माना जा सकता जब व्याप्ति सन्देहरहित हो। यदि व्याप्ति अवास्तविक हो तो अनुमान को भी निश्चय ही अवास्तविक कहना चाहिए।

व्याप्तिज्ञान के उपायों का खण्डन-

- प्रत्यक्ष से इसलिए व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि व्याप्तिज्ञान सार्वदेशिक, सार्वभौमिक तथा त्रैकालिक ज्ञान होता है। बाह्यप्रत्यक्ष से व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि बाह्यप्रत्यक्ष बाह्येन्द्रिय से होता है और वह वर्तमानकालिक होता है जो त्रैकालिक ज्ञान नहीं करा सकता है। बाह्यप्रत्यक्ष

से त्रैकालिक की बात तो दूर की है वह वर्तमान में भी जगत का भिन्न- भिन्न स्थान में ज्ञान नहीं करा सकता। फिर चार्वाकों ने पूर्वपक्ष के मत का खण्डन करके कहते हैं- आप ऐसा भी न समझें कि व्याप्तिज्ञान सामान्य से होता है। आपको धूमत्व और वह्नित्व का ज्ञान हो गया तो आप सारे धूम और वह्नि को जान गये ऐसा भी नहीं है। क्योंकि जाति में सामान्य गुण होता है और व्यक्ति में विशेष गुण होता है। धूमत्व में उसका सामान्य गुण जान सकते हैं पर सभी विशेष धूम का विशेष गुण तो नहीं जान सकते हैं। व्याप्तिज्ञान दो व्यक्तियों के मध्य होता है और आप सारे व्यक्ति(धूम) को नहीं जानते हैं तो व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता है। आभ्यन्तर प्रत्यक्ष से भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि अन्तःकरण बाह्येन्द्रिय पर आश्रित है। बाह्येन्द्रिय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द विषयों का ग्रहण करता है और अन्तःकरण को प्रेषित करता है। अन्तःकरण बाह्येन्द्रिय के अधीन होने के कारण स्वयं से ज्ञान नहीं कराता है। तत्त्वविवेक में भी कहा गया है- “चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः”^{११}। इसलिये आभ्यन्तर प्रत्यक्ष से भी व्याप्ति ज्ञान नहीं हो सकता है।

- अनुमान से भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि पहले तो हम अनुमान के लिये व्याप्तिज्ञान कर रहे हैं और इस व्याप्तिज्ञान के लिये अनुमान की आवश्यकता पड़ रही है। पुनः इस अनुमान के लिये एक और अनुमान आयेगा, उसके लिये एक और अनुमान की आवश्यकता होगी। ऐसे अनन्तकाल तक यह प्रक्रिया चलती रहेगी। इस प्रक्रिया को अनवस्था दोष(जिसकी समाप्ति कभी न हो) कहते हैं। इस अनवस्था दोष के कारण अनुमान से भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता है।
- क्या व्याप्ति की स्थापना शब्द से सम्भव है? शब्द के द्वारा भी व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती है। क्योंकि शब्द की सत्यता अनुमान पर आधारित है। अतः शब्द के विरुद्ध वे ही दोष उत्पन्न होते हैं जो अनुमान के विरुद्ध उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि अनुमान को शब्द पर आश्रित माना जाए, तो प्रत्येक अनुमानज्ञान के लिए शब्द पर निर्भर करना होगा। जिसके फलस्वरूप स्वतन्त्र रूप से अनुमान करने की सम्भावना का भी अन्त हो जाएगा। यदि शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मान लिया जाए तो शब्दप्रमाण के लिए किसी विश्वसनीय व्यक्ति के वाक्य की आवश्यकता होगी। ऐसी स्थिति में स्वार्थानुमान का प्रसङ्ग समाप्त हो जायेगा।^{१२}
- उपमान से भी व्याप्ति ज्ञान नहीं हो सकता है। उपमान संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध का ज्ञापक है, अविनाभाव (व्याप्ति) सम्बन्ध का नहीं। इस प्रकार किसी भी प्रमाण से व्याप्ति ज्ञान नहीं हो

११. सर्वदर्शनसंग्रह-पृ० सं०-११

१२. सर्वदर्शनसंग्रह; चार्वाक दर्शन; पृ० सं०- १२

सकता। व्याप्ति दो वस्तुओं का साहचर्य या अविनाभाव सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को नित्य तथा अनौपाधिक सम्बन्ध कहते हैं।

- इस प्रकार अभाव प्रमाण भी व्याप्तिज्ञान नहीं करा सकता है, क्योंकि अभाव में केवल अभाव का ज्ञान होता है उससे भिन्न का ज्ञान का साधन नहीं बन सकता है। व्याप्तिज्ञान इन सभी उपायों से नहीं हो रहा है तो दूसरा उपाय क्या है?
- यदि उपाधि के अभाव को व्याप्ति मानें^{१३} तो भी व्याप्ति ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि सभी उपाधि प्रत्यक्ष होंगी यह असम्भव है।^{१४} व्याप्तिज्ञान उपाधि-ज्ञान के अधीन है तो पहले उपाधि का ज्ञान जरूरी है। इसलिए उपाधि का लक्षण कहा गया है- ‘साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधिः।’^{१५} अर्थात् जो धर्म साधन को अव्यापक हो पर साध्य को व्यापक हो, उसे उपाधि कहते हैं।

यथा- पर्वतः धूमवान्, वह्निमत्वात्।

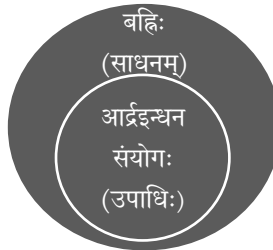
यहाँ साध्य- धूम, साधन- वह्नि, पक्ष- पर्वत।

उदाहरण वाक्य - यत्र यत्र वह्नि, तत्र तत्र धूमः।

यह व्याप्ति सही नहीं है, क्योंकि सभी अग्नि के साथ धूम नहीं होता है। जैसे – ‘अयोगोलक’।

इस कारण उपाधि की आवश्यकता है। यथा- यत्र-यत्र आर्द्रेन्धनसंयोगवह्निः तत्र-तत्र धूमः।

➤ किं साधनाव्यापकत्वम्- जहाँ उपाधि साधन को पूर्ण रूप से व्याप्त न करता हो।^{१६} यथा- यत्र-यत्र वह्निः तत्र तत्र सर्वत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः नास्ति। यथा- अयोगोलक। अयोगोलक में वह्नि तो होता है पर आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं होता है। इसलिये आर्द्रेन्धनसंयोगवह्नि का अव्यापक है।



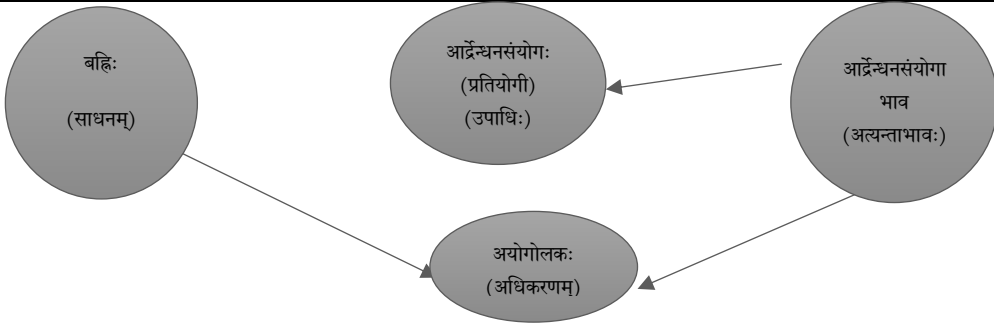
साधन के साथ एक ही अधिकरण में रहनेवाला अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी ही साधन का अव्यापक है। अर्थात् वह्नि के साथ एक अधिकरण = अयोगोलक में रहनेवाला अत्यन्ताभाव आर्द्रेन्धनसंयोग का प्रतियोगी आर्द्रेन्धनसंयोग ही वह्नि का अव्यापक है।

१३. उपाधिविधूरः सम्बन्धः व्याप्तिः। सर्वदर्शनसंग्रह; चार्वाक दर्शन; पृ० सं-९

१४. सर्वदर्शनसंग्रह; चार्वाक दर्शन; पृ० सं-१५

१५. गोविन्दाचार्य, तर्कसंग्रह; पृ० सं-२२५

१६. साधनवन्निष्ठ अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। तर्कसंग्रह; पृ० सं-२२५

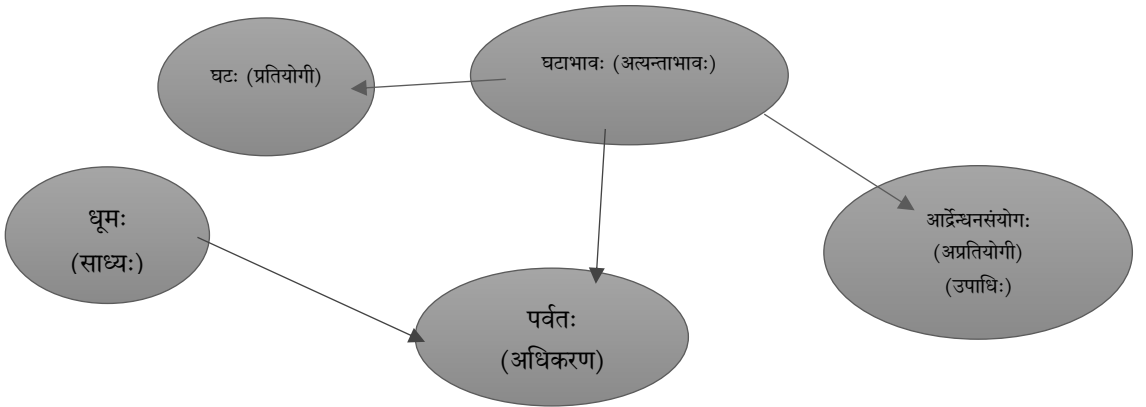


➤ किं साध्यसमव्याप्तिः? ^{१७}— जो साध्य को समान व्याप्त करता हो उसे उपाधि कहेंगे। अर्थात् यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः इति साध्यसमव्याप्तिः। जहाँ कहीं भी धूम होता है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोगवह्निअवश्य होता है।



➤ किं साध्यव्यापकत्वम् - साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। ^{१८}

साध्य के साथ समान अधिकरण में रहनेवाली अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी न होकर अर्थात् अप्रतियोगी होना ही साध्यव्यापकत्वम्। यथा- यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः इति।



इस प्रकार जो साध्य को समान व्याप्त करता हो और साधन का अव्याप्त हो उसे ही उपाधि कहते हैं। उपाधि के ज्ञान होने पर ही उसकी अभाव व्याप्ति है इसका ज्ञान हो सकता है और उपाधि के ज्ञान व्याप्तिज्ञान पर निर्भर है क्योंकि उपाधि की लक्षण में ही व्याप्ति शब्द है। इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष उत्पन्न होता है। व्याप्तिज्ञान सम्भव न होने की कारण अनुमान का कोई स्थान नहीं है।

१७. अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः। सर्वदर्शनसंग्रहः; पृ०सं०- १७

१८. तर्कसंग्रहः; पृ०सं०-२२५

उपमान प्रमाण भी अप्रामाणिक है- उपमान प्रमाण उपमा पर आधारित है अर्थात् सदृश्यता या तुलना के माध्यम से होता है। उपमान संज्ञासंज्ञि का ज्ञान कराता है।^{१९} जैसे- गो सदृशः गवयः। पूर्व में किसी दृश्य वस्तु के आधार पर अन्य वस्तु का तुलना करना उपमान है। यहाँ सादृश्य या समानता दो प्रकार की हो सकती- एकदेशीय समानता और अत्यन्त समानता। दोनों ही अर्थों में उपमान प्रमाण नहीं हो सकता। यदि 'गौ' के समान 'गवय' का अर्थ अत्यन्त समानता है तो उपमान की सिद्धि नहीं होती। यदि गौ के समान 'गवय' में एकदेशीय समानता है तो 'वृषभ' के समान 'महिष', इस वाक्य में भी उपमान में प्रमाणता की सिद्धि होती। उपर्युक्त दोनों वाक्य निरर्थक प्रतीत होते हैं।

शब्द प्रमाण का खण्डन- चार्वाक मतानुसार शब्द प्रमाण कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। 'आप्तवाक्यशब्दः'^{२०} अर्थात् आप्त के द्वारा कहा गया वचन शब्दप्रमाण है। आप्त अर्थात् यथार्थ पुरुष का अर्थ^{२१} जो वस्तु जैसा है उसे उसी तरह बताने वाला या विश्वसनीय पुरुष। यह शब्द प्रमाण दो प्रकार का है- प्रथम 'लौकिक' जो गुरु, पिता और वैद्यादि के वाक्य होता है। द्वितीय 'वैदिक' जो वेदादि शास्त्रों का वाक्य होता है। चार्वाक वेद मानता ही नहीं क्योंकि उनका कहना है कि यह धूर्तों की रचना है और कुछ जाति विशेष अपनी जीविका के लिये इन वेदादि शास्त्रों की रचना की है।^{२२} कणाद जी के मतानुसार शब्द प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत है।^{२३} चार्वाक के अनुसार यदि शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत न माना जाए, तो भी शब्द निर्दोष प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता। शब्द प्रमाण तो शक्तिज्ञान पर निर्भर है और यह शक्तिज्ञान द्वारा किसी शब्द का निश्चित अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करना जैसे गौ कहने से एक चतुष्पद, सींगवाले, खुरसहित प्राणी को समझ लेना। शक्तिग्रह के विभिन्न साधन हैं; जैसे व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त-वाक्य, वृद्धव्यवहार इत्यादि।^{२४}

परन्तु 'वृद्धपुरुष' शक्तिज्ञान वास्तव में अनुमान पर ही आधारित है। जैसे बालक 'गामानय' शब्द को गाय लाने की क्रिया से जोड़कर उसका अर्थ समझता है। इसी प्रकार 'धूमअग्नि' में व्याप्त है' जैसे वाक्य से व्याप्तिज्ञान तभी होगा, जब पहले 'धूम', 'अग्नि' और 'व्याप्ति' शब्दों की शक्ति ज्ञात हो। यदि शक्तिग्रह के लिए फिर किसी अन्य

-
१९. उपमितिकरणमुपमानम् । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः । तर्कसंग्रहः; उपमान परिच्छेदः; गोविन्दाचार्यः; पृ० सं०-२३२
२०. तर्कसंग्रहः; गोविन्दाचार्यः; पृ० सं०-२३९
२१. आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वही; पृ० सं०-२३९
२२. त्रय्या धूर्तप्रलापमात्रत्वेन, अग्निहोत्रादेः जीविकामात्रप्रयोजनत्वात् । सर्वदर्शनसंग्रहः; पृ० सं०-६
२३. शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिध्यते । अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ॥ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली; भाषा-परिच्छेदः; पृ० सं०-१४०-१४१
२४. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानात्कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषाद्विवृते वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली; शब्दखण्डः; पृ० सं०-८१

संकेत या अनुमान की आवश्यकता मानी जाए, तो उसमें भी शक्तिग्रह चाहिए होगा। इस प्रकार निरन्तर अनवस्था का दोष उत्पन्न होगा।^{२५} चार्वाक दर्शन शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानता है क्योंकि शब्द से ज्ञान तभी होता है जब वक्ता विश्वासयोग्य हो, किन्तु पहले यह निश्चित करना ही कठिन है कि कौन आप्त है। यदि किसी को आप्त मानते भी हैं, तो यह मान्यता भी अनुमान पर आधारित होती है। यथा- 'सभी आप्त पुरुषों के वचन सत्य होते हैं; यह व्यक्ति आप्त है; अतः इसका वचन सत्य है।' इसलिए शब्दज्ञान मूलतः अनुमानाश्रित है और चार्वाक अनुमान को अप्रामाणिक मानता है, अतः अनुमान पर आधारित शब्दज्ञान भी उसके लिए अप्रामाणिक है। अनुभव से भी यह स्पष्ट है कि शब्द कभी सत्य ज्ञान देता है, कभी असत्य। अतः सत्यता शब्द का स्वाभाविक गुण नहीं, अपितु संयोग मात्र है। इसलिए शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण कहना उचित नहीं। यद्यपि शब्द प्रत्यक्ष पर आधारित है फिर भी चार्वाक इसे प्रामाणिक नहीं मानता, क्योंकि साधारणतः शब्द से ईश्वर, स्वर्ग और नर्क जैसी अप्रत्यक्ष वस्तुओं का ज्ञान देने के फलस्वरूप शब्द को प्रामाणिक कहना भूल है तथाकथित शब्द प्रमाण से प्रायः हमलोगों को मिथ्या ज्ञान प्राप्त होता है। तथा वेद में 'उदिते जुहोति' एवं 'अनुदिते जुहोति' जैसे शब्द हैं जो कि द्वयर्थक, व्याघातकतथा असंगत हैं।^{२६} अतः उसे ज्ञान का प्रामाणिक साधन नहीं माना जा सकता।

अभाव प्रमाण भी अप्रामाणिक है-अभावकिसी वस्तु की अनुपलब्धियासत्ताका बोध कराता है। जहाँ प्रत्यक्षगम्य वस्तु का अभाव प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा जाना जा सकता है, वहीं जो वस्तुएँ अप्रत्यक्ष हैं, उनके अभाव का ज्ञान भी अप्रत्यक्ष से होगा। ऐसे अप्रत्यक्ष वस्तुओं के अभाव का ज्ञान अनुमान आदि प्रमाणों के माध्यम से ही सम्भव होगा। पुनः उसी अनुमान के हेतु के अभाव को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा होगी जिससे अनवस्थादोष उत्पन्न हो जाता है।

निष्कर्ष- चार्वाक दर्शन ने भारतीय विचारधारा को भौतिक, तर्कप्रधान और अनुभवसिद्ध दृष्टि प्रदान किया है। उसने प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानकर अनुमान आदि अन्य प्रमाणों को अस्वीकार किया, जिससे ज्ञान को अनुभव की सीमाओं में बाँधा गया। यद्यपि यह दृष्टिकोण अत्यधिक इन्द्रियप्रधान प्रतीत होता है, परन्तु इसने तर्कशीलता, वैज्ञानिक और प्रमाणपरक दृष्टि को सुदृढ़ किया। आज के वैज्ञानिक और तर्कप्रधान युग में जहाँ अन्धविश्वास और अवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, चार्वाक का प्रत्यक्षवादी दर्शन अत्यन्त प्रासङ्गिक है। यह दर्शन सिखाता है कि सत्य, सुख और स्वतन्त्रता की खोज इसी जीवन और इसी संसार में की जानी चाहिए। इस प्रकार चार्वाक की प्रमाणमीमांसा केवल दार्शनिक मत नहीं, अपितु आधुनिक वैज्ञानिक और तर्कसङ्गत चेतना का आधार है।

---O---

२५. अनन्तर्भावे वा वृद्धव्यवहाररूपलिङ्गावगतिसापेक्षतया प्रागुक्तदूषणलङ्घनाजङ्गालत्वात्। सर्वदर्शनसंग्रह; पृ० सं०-१२

२६. सर्वदर्शनसंग्रह; पृ० सं०- ६

कथा लेखिका शिवानी के उपन्यासों में संस्कृति

डॉ. उमेश कुमार शुक्ल,

सहायक आचार्य, भाषा एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आशीष कुमार

शोधार्थी, भाषा एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य शिवानी के उपन्यासों में निहित सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण करना है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि उनका साहित्य भारतीय समाज की सांस्कृतिक संरचना, मूल्य-व्यवस्था और परिवर्तनशील प्रवृत्तियों को किस प्रकार प्रतिबिम्बित करता है। इस दृष्टि से यह अध्ययन न केवल साहित्यिक, बल्कि सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में भी महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

संस्कृत भाषा में “सम्” उपसर्ग पूर्वक ‘कृ’ धातु में “ति” प्रत्यय के योग से संस्कृति शब्द उतपन्न होता है। संस्कृति = सम् + कृति अर्थात् “अच्छी प्रकार से सोच समझकर किये गये कार्य”। व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति शब्द ‘परिस्कृत कार्य’ अथवा उत्तम स्थिति का बोध कराता है, किन्तु इस शब्द का भावार्थ अत्यन्त व्यापक है। संस्कृति मानव के लिए सर्वोत्तम वरदान है। जो उसे समाज द्वारा मिला है। मानव अपने सामाजिक जीवन में जो कुछ भी सीखता है, वही संस्कृति है। संस्कृति को भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है-

- “महात्मागाँधी” के अनुसार- “संस्कृति नींव है, प्रारम्भिक वस्तु है, तुम्हारे सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवहारों से इसे प्रकट होना चाहिए।”
- “मैकाइवर” के अनुसार- “संस्कृति हमारे जीवन के दैनिक व्यवहारों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन व आमोद-प्रमोद, रहन-सहन और विचार की विधियों में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।”^१
- “औटावे” के अनुसार- “किसी समाज की संस्कृति का अर्थ समाज के सम्पूर्ण जीवन पद्धति से होता है।”^२

कथा लेखिका शिवानी जी के अधिकांश उपन्यासों में पहाड़ी संस्कृति की झलक देखने को मिलती है। मूल पृष्ठभूमि पहाड़ का कुमाऊँ अंचल होने से उनके लेखन में विशेष रूप से कुमाऊँ अंचल की लोक संस्कृति भाषा-शैली उनके रीति-रिवाज और सामाजिक संरचना का यथार्थपरक चित्रण मिलता है।

१. चौरसिया, समर, संस्कृति का अर्थ, परिभाषा, समर एजुकेशन, 2024

२. “यह शुभ.....बैठ गई।”- शिवानी, कैजा (पूतों वाली), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2018, पृ0सं0-72-73

लेखिका के “पूतों वाली” उपन्यास की कथा ‘कैंजा’ (लघु उपन्यास) में नन्दी और सुरेश के विवाह का एक उदाहरण का वर्णन किया है- “यह शुभ कार्य तत्काल सम्पन्न हो, क्योंकि कल सुबह ही रोहित शायद लौट आयेगा।”^३ उसकी इस चट मंगनी और पट विवाह में पिफर दो घण्टे भी नहीं लगे थे। सौभाग्य से उस दिन भी ताई का व्रत था, निर्जलनिराल कर, उन्हीं ने कन्यादान किया और अपनी एक मात्र मोहन माला नववधु को पहना दी। ऐसा विचित्र विवाह उस गाँव में ही क्या, शायद संसार में भी केवल कभी नहीं हुआ था। उत्तेजना से क्लान्त हो गया नौशा बार-बार निढाल होकर बिस्तर पर लेट जाता था। कई बार विवाह वेदी से उठ-उठकर वधु ने उसकी नज़ देखी। सप्तपती के बीच पावन अग्नि की आँच में ही सिरिंज उबाल, उसे इन्जेक्शन दिये और जब पफेरे करने का समय आया, तो वह वर-विहीन वधु पीले पटुके को अपने आँचल से बाँध, अकेली ही पावन अग्नि की प्रदक्षिणा कर गयी थी। पलंग पर पड़ा सुरेश भट्ट बीच-बीच में आँखे खोलता और पिफर बन्द कर लेता। विवाह सम्पन्न होते ही सहमें अतिथि स्वयं ही विदा हो गये, तो चिन्तातुरा नन्दी सुरेश के सिरहाने बैठ गई।

कथा लेखिका शिवानी के उपन्यास पूतों वाली की लघुकथा तीसरा बेटा लघु उपन्यास में लेखिका द्वारा सावित्री के दत्तक पुत्र गंगाध्र द्वारा सावित्री के अन्तिम संस्कार का चित्रण किया है जो हिन्दु संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। “गंगा कोरी मार्किनिया धेती घुटनों तक समेट, नंगे बदन, इस जननी की अरथी को कन्ध लगाये आगे-आगे चल रहा था, जिसने उसे गर्भ में न रखकर भी जन्म दिया था। शवयात्र क्या थी, जैसे किसी लोकप्रिय देश वन्दित नेता का धूमधाम से निकल रहा था जनाज़ा। पूफल-मालाओं के अम्बार से ढकी देह पर बेशकीमती दुशाला पड़ा था। लग रहा था, शहर भर के युवा किशोर वहाँ आकर बिछ गये थे। बिछते भी क्यों नहीं? गंगाध्र था उनके दल का एक छत्र सम्राट और आज वहीं मातृहीन हुआ था। पिफर गंगा ने वह सब किया जो शायद सावित्री के सगे बेटे भी नहीं कर पाते।

रीति-रिवाज भी हमारी संस्कृति का एक अभिन्न अंग होते हैं। लेखिका ने अपने उपन्यासों के माध्यम से पहाड़ी संस्कृति के रीति-रिवाजों का चित्रण प्रस्तुत किया है। पूतों वाली उपन्यास की कैंजा कहानी में पुत्र जन्म के अवसर पर पहाड़ी क्षेत्र कुमा में प्रथानुसार छोटी लड़की की पीठ पर गुड पफोड़ने के रिवाज का वर्णन किया है-

“सुनते थे कि भाई होने पर बड़े उत्सव से जब पहाड़ी प्रथानुसार रमा दी की नाजुक पीठ पर गुड़ की भेली पफोड़ी गई तब उनके बन्द मुहँ से एक नन्हीं सी चीख भी नहीं निकली थी।”^४

३. “गंगा.....कर पाते।”- शिवानी, तीसरा बेटा (पूतों वाली), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2018, पृ0सं0-153

४. “सुनते थे.....निकली थी।”- शिवानी, कैंजा (पूतों वाली), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2018, पृ0सं0- 50

कथा लेखिका शिवानी ने कुछ पहाड़ी प्रथाओं या पिफर टोटकों का भी अपने उपन्यासों में वर्णन किया है जो पहाड़ की संस्कृति का एक अभिन्न अंग मानी जाती हैं।

“नवजात शिशु के अघ्रों पर कटी नाल के ताजे रक्त-प्रलेपन का पहाड़ी टोटका मैं पहले भी सुन चुकी थी। लड़के की नाल कचहरी में गाड़ दी जाती है, जिससे वह डिष्टी बने और लड़की की नाल चूल्हे के नीचे, जिससे वह दक्ष गृहणी बने पहाड़ के इन दोनों नियमों से भी मैं अनभिज्ञ नहीं थी।”^५

पर्व एवं त्यौहार किसी भी संस्कृति की पहचान होते हैं। ये भी रीति-रिवाज से सम्बन्ध रखते हैं। इनके द्वारा मानव मन को हर्षोल्लास की प्राप्ति होती है। दशहरा, होली एवं दीपावली आदि बड़े त्यौहार भारत में विशेष महत्व रखते हैं। लेखिका ने अपने उपन्यासों में पर्व एवं त्यौहारों का सुन्दर एवं सजीव चित्रण किया है।

प्रत्येक वर्ष दशहरे से पूर्व रामलीला का आयोजन होता है। रामलीला में सभी लोग एकत्र होकर रामकथा को सुनते हैं एवं भगवान श्रीराम की लीलाएँ देखते हैं।

लेखिका ने अपने उपन्यास “कालिन्दी” में रामलीला का चित्रण किया है-

“उन दिनों अल्मोड़ा में दो रामलीलाएँ प्रसिद्ध थीं, एक बद्रेश्वर की, दूसरी पाण्डखोला की।

बद्रेश्वर की रामलीला की तब विशेष ख्याति थी। वहाँ का संगीत पक्ष सम्भालते थे अल्मोड़ा के कई संगीत- रसिक रईस, वायलिन, तबला, हारमोनियम और पिफर स्वयं श्रीराम के मधुर कण्ठ से, बिना किसी नेपथ्य की प्रांपटिंग के निसृत धारा प्रवाह चौपाईयाँ, दोहे और छन्द। उस पर बीच- बीच में दिखाये गये ‘सीनों’ की उन दिनों ऐसी ख्याति थी कि रानीखेत, बागेश्वर, गरूड़ के रसिक दर्शक मोटर भाड़ा खर्च कर देखने चले आते।”^६

कथा लेखिका शिवानी ने अपने उपन्यासों में कुमाँऊनी संस्कृति के खतडुवा, दुबज्योड़ा, हरेल, डोर, बगवाली आदि त्यौहारों का वर्णन किया है। ‘खतडुवा’ पहाड़ का प्रसिद्ध त्यौहार है। जिसकी पृष्ठभूमि में धार्मिक भावना निहित है।

“जब हम छोटे थे तो यही त्यौहार हम कितनी धूमधाम से मनाते थे, पूछ अपनी माँ से दूर-दूर की पहाड़ी चोटियों पर मशाल से जलते अग्निस्तूप और चीखते चिल्लाते बड़े-बूढ़े, बच्चे-भेल्लो जी भेल्लो, भेल्लो खतडुवा-लम्बे-लम्बे डण्डों में बंधे, हरी कच्ची ककड़ी के नन्हें पफुल्यून, वही पिफर प्रसाद रूप में बांटे जाते।”^७

५. “नवजात शिशु.....नहीं थी।”- शिवानी, रतिविलाप (किशनुली), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली- 2018, पृ0सं0- 46

६. “उन दिनों.....चले आते।”- शिवानी, कालिन्दी, सरस्वती विहार, दिल्ली- 1991, पृ0सं0- 45-46

७. “जब हम.....बाँटे जाते।”- शिवानी, कालिन्दी, सरस्वती विहार, दिल्ली-1991, पृ0सं0- 78

भारतीय संस्कृति में वेशभूषा का भी अपना एक अलग स्थान होता है। लेखिका ने अपने उपन्यासों में पहाड़ी वेशभूषा का चित्रण सफलतापूर्वक किया है जो पाठकों के मन को अत्यधिक भाता है। कुमाऊँ के धारचूला क्षेत्र में रहने वाले भोटिया लोगों की वेशभूषा 'शौक' का चित्रण अपने उपन्यास "भैरवी" में किया है।

“एक तो उस 'शौक' पोशाक का जादू, उस पर स्वयं पहनने वाली का जादुई व्यक्तित्व, खड़ी धारियों से सजा, गाढ़े मैरून रंग का आदि खुल्लम-खुल्ला बाँहों का, किसी मुसलमान पफकीर का-सा कुर्तानुमा 'च्युंग' उसके ऊपर कुर्ते के अनावश्यक घेर को किसी मंजूषा में बांधे, सुडौल उभार को उभारती वास्कट 'रकल्व', नीचे गहरे नीले रंग का, टखनियों तक झूलता किसी विदेशी नन का-सा झब्बा 'बाला'.....”^८ लेखिका के उपन्यासों में कुमाऊँ में प्रचलित परिधानों के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों के प्रचलित परिधानों का भी चित्रण देखने को मिलता है। लेखिका के उपन्यास “चल खुसरो घर अपने” में काशी की वेशभूषा के माध्यम से बुन्देलखण्डी परिधान की झलक प्रस्तुत की गयी है-, “काशी का काला ऊँचा लहंगा, स्कर्ट की-सी ऊँचाई में घुटनों से कुछ ही नीचे तक पहुँच रहा था। कई रंगीन लाल-नीले टुकड़ों को जोड़कर बनाई गई उसकी बंजारिन की सी चोली पर चिपकाए गए काँच चम-चम चमक रहे थे।”^९ शिवानी के साहित्य में धार्मिक आस्था, लोक-विश्वास और आध्यात्मिक तत्व साहित्य को सांस्कृतिक गहराई प्रदान करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कथा लेखिका शिवानी के अध्कांश उपन्यास पारम्परिक भारतीय मूल्यों, पर्वतीय जनजीवन के अनछुए पहलुओं, एवं नारी के संघर्ष के अनूठे मिश्रण को प्रस्तुत करते हैं। लेखिका के उपन्यास परम्परा एवं आधुनिकता के बीच संतुलन साधते हुए, नारी को नए आयाम एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को सजीव रूप में चित्रित करते हैं, जो भारतीय संस्कृति के विविध संस्कारों एवं रूढ़ियों का आलोचनात्मक चित्रण है। इनका कथा साहित्य भारतीय संस्कृति के अध्ययन हेतु एक महत्वपूर्ण स्रोत है, जो न केवल अतीत और वर्तमान के बीच सेतु का कार्य करता है, बल्कि भविष्य की सांस्कृतिक दिशा को भी इंगित करता है।

---O---

८. “एक तो.....बाला।”- शिवानी, भैरवी, शब्दकार, दिल्ली-1969, पृ0सं0-121

९. “काशी का.....रहे थे।”- शिवानी, चल खुसरो घर अपने, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2019, पृ0सं0-27

Indian Psychology and the Curses of the *Mahābhārata*

Dr. Pratiksha Goswami

Research Assistant, Dibrugarh University, Assam

Introduction: There are two prominent emotions in the mind of any person. Those are happiness and sadness. Though there are many emotions have flourished in the mind of a person but these two emotions have prominent places in the mind of a person. In this discussion it can be said that the curses are the products of the sadness of the curse givers. The emotions of a person have created a landscape for his/her further actions. That is why, it can be said that those emotions such as; anger, sadness, grief, revenge etc., have worked as the main agents for any person to inflict any harm to another person. So, it is important to study the mind of a person to deliver a clear judgement for any of his/her actions. Therefore, in this present academic venture the curses of the *Mahābhārata* with their psychological analysis from the perspectives of Indian Psychology is going to be discussed.

Discussion: India has a strong and diverse tradition of reflective scholarship with rich insights into human psyche and behaviour much before the advent of modern scientific Psychology^१. *Ātmānam Viddhi* is the central idea of the Indian thought. It is also the corner stone of Indian Psychology from the Vedic times to the present^२. Indian Psychology involves the study of a person. The person is determined as the composition of body, mind and consciousness. Body refers to the nervous system, the senses and associated structures which is connected with the brain. The mind is regarded as the cognitive instrument which is at one end related with the body and at the other end related with the consciousness. Consciousness is distinct from mind and body because it consists of the non-physical aspect of the person^३. According to Indian Psychology, a person functions at three different levels as a composite of body, mind and consciousness. As for example, through the sensory motor of body a person is capable of processing information. This level is called the level of observation. The second level is understanding the processing information through the functions of mind. The third level is the realization of the actual truth. These three different levels can be seen by the three

१. c.f. Rao, K. Ramakrishna and Pranjpe, C. Anand. *Psychology in the Indian Tradition*, chapter 1, p.7

२. *Ibid.*, p.1

३. *Ibid.*, p.5

concepts. They are- *śravaṇa*; hearing, *manana*; thinking or understanding and *nidhidhyāsana*; meditative realization. Here, *śravaṇa* is associated with the observation. *Manana* is associated with the understanding. Finally, *nidhidhyāsana* is the realization of the truth which is gathered from the former two levels^४. According to Indian Psychology, mind is the instrument of cognition and manifests awareness in various forms because of its association with consciousness. It is also the seat of emotions. The mind experiences all kinds of emotions and engages in different kinds of actions when the mind interacts with the body^५. So, here the curses of the *Mahābhārata* will be explained through the various types of emotions.

Psychology studies the emotions of the minds of the human beings. These emotions can be categorized as the main cause of the curses of the *Mahābhārata*. The emotions of the mind of the curse givers are shown by their words. So, here various emotions which can be the causes of the curses are going to be discussed.

Anger: Anger is a prominent emotion of the human mind. Anger is the root cause of the curses of the *Mahābhārata* mostly. Rāmakaṇṭha characterizes anger as an emotion which is characterized by a strong dislike or aversion^६. Again, according to Śaṁkara anger is aroused by the obstruction of the desire which can be caused by an agent. The agent can be conscious or unconscious^७. According to Rāmānuja anger is a distortion of the mind which is caused by another conscious agent. That agent is the cause of the separation of the cherished objects and encounter with hostile objects or person. Anger is evoked by a person because of that person the other person cannot attain the object of desire^८. Again, Rāmānuja observes anger is a perversion of the mind. That anger is expressed in the persecution of the wrong-doer^९. According to Madhusudana also anger is a desire to inflict injury on the malefactor^{१०}. Moreover, according to Rāmakaṇṭha anger is an excitement of the mind and the sense organs. This excitement begins because of an

४. *Ibid.*, p.6

५. *Ibid.*, p.6

६. krodhaḥ dveṣalakṣaṇaḥ// Rāmakaṇṭha's commentary on *Bhagavadgītā*, 16.21

७. kāmāt kutaścīt pratihatāt krodhaḥ abhijāyate// Śrī Śaṁkarācārya's *Bhāṣya* on *Śrīmad Bhagavad Gītā*, 2.62

८. priyaviśeṣāpripriyāgamanahetubhṛtacetanāntaragataduḥkhaḥetusvamanovikāraḥ krodhaḥ tadrāhitaḥ// Rāmānuja's Commentary on *Bhagavad Gītā*, 2.56

९. krodhaḥ parapīḍāphalacittavikāraḥ// *Ibid.*, 16.4

१०. krodhaḥ svaparāpakārapravṛttiheturabhijvalanātmako'ntaḥ karaṇavṛttiviśeṣaḥ// Madhusudana's Commentary on *Bhagavad Gītā*, 16.4

aversion. Aversion can be defined as a desire to destroy the object or the person who thwarts the desire^{११}. It can be seen in the curse of Kindama to Pāṇḍu. According to the *Mahābhārata*, Pāṇḍu was cursed by Kindama because Pāṇḍu had shot an arrow to the sage^{१२}. This disgrace act of Pāṇḍu is the cause of the anger of Kindama. According to the *Mahābhārata*, because of the anger sage Kindama got excited and his sense organs also got distressed^{१३}. This excitement is caused by Pāṇḍu. In this situation the victim is Kindama and malefactor is Pāṇḍu. As Madhusudana says that anger is a desire to inflict injury on the malefactor^{१४}. So, because of the anger of sage Kindama, Kindama has wanted to punish Pāṇḍu. Again, according to Rāmānuja anger is caused by the separation of the cherished objects and encounter with hostile objects^{१५}. In the case of Kindama because of Pāṇḍu Kindama has got separated from his wife and cannot complete his sexual desire. Again, Kindama has got shoot by an arrow of Pāṇḍu. Kindama has separated from his wife which is his cherished person. Also, Kindama has come across the hostile object which is the arrow of Pāṇḍu. Thus, both of these factors are the cause of the anger of Kindama. Therefore, Kindama has wanted to inflict punishment on Pāṇḍu. That is why, Kindama has cursed Pāṇḍu that he would face his death whenever he would try to be intimate with his wife^{१६} as a form of punishment.

According to Varavaramuni anger is a perversion of the mind. This perversion of the mind is created by the separation from a dear object or a person. This separation is caused by another

-
११. krodham dveṣanimittakam cittendriyakṣobham tathā parigraham
dehadārakadraviṇādiṣu sarvasvabuddhyā svīkāram// Rāmakaṇṭha's commentary on
Bhagavadgītā, 18.53 krodhaḥ tadupaghātapravṛttiheturdveṣaḥ sampadyate// *Ibid.*, 3.37
१२. tatastām ca mṛgīm taṁ ca rukmapuṁkhaiḥ suputribhiḥ/ nirbibheda śaraistīkṣṇaiḥ
pāṇḍuḥ pañcabhirāśugaiḥ// *Mahābhārata, Ādiparvan*, 117.6
१३. saṁsaktāśca tayā mṛgyā mānuṣīmariyan giram/ kṣaṇena patitau bhūmau
vilalāpākulendriyaḥ// *Ibid.*, 117.8
१४. krodhaḥ svaparāpakārapravṛttiheturabhijvalanātmako'ntaḥ karaṇavṛttiviśeṣaḥ//
Madhusudana's Commentary on *Bhagavad Gītā*, 16.4
१५. priyaviśeṣāpriyāgamanahetubhṛtacetanāntaragataduḥkhahetusvamanovikāraḥ krodhaḥ
tadrahitaḥ// Rāmānuja's Commentary on *Bhagavad Gītā*, 2.56
१६. sa bāṇavidha uvāca pāṇḍum- caratā dharmamimarṁ yena tvayābhijñena
kāmarasasyāhamanavāptakāmaraso nihatastasmāt tvamapyetānavasthāmāsādyānavāptakāmarasaḥ
pañcatvamāpsyasi kṣiprameveti/ sa vivarṇarupastathā pāṇḍuḥ śāpaṁ pariharamāṇo nopāsarpat
bhārye// *Mahābhārata, Ādiparvan*, 95.60
-

agent. The separation causes pain to the agent. Therefore, it is said that anger is a mental perversion. This mental perversion causes injury to the offender^{१७}. It can be seen in the curse of Vaśiṣṭha towards the eight Vasus. Vaśiṣṭha has cursed the eight Vasus because they have stolen the auspicious cow called Nandini of sage Vaśiṣṭha^{१८}. That disgrace work of the Vasus has inflamed the anger in Vaśiṣṭha^{१९}. According to Varavaramuni anger is caused because of the separation of the dear object or person by another agent^{२०}. Here Vaśiṣṭha has gotten separated from his beloved cow because of the Vasus which has caused the anger of Vaśiṣṭha. Again, Varavaramuni says that the separation causes pain to the agent because the victim inflicts punishment to the agent^{२१}. Here, after the separation from the cow which is the beloved object of Vaśiṣṭha, Vaśiṣṭha has cursed Vasus to be born as humans in the earth^{२२} as a punishment because of his anger^{२३}.

Again, according to Śaṅkarācārya, anger is a ripening of aversion which produces mental excitement. Anger can deflect even a cultured person from the path of virtue. Anger can enrage even an old person. Anger can also excite and cause pain to a person who regrets for his irascible temper. The expression of the anger can be listed as follows; trembling of the body, sweating, the biting of the lips, red eyes, red face and the like^{२४}. It can be seen in the

-
१७. priyaviśleṣādihetuparaduḥkhāpādakasvamanovikāraḥ krodhaḥ//
Varavaramuni's Commentary on *Bhagavad Gītā*, 2.56, krodhaḥ
parapīḍāhetuśittavikāraḥ// *Ibid.*, 16.4
१८. priyaṁ priyataṁ hyasmānnāsti me'nyat kathamcan/ etacchrutvā vacastasyā devyāḥ
priyacikīrṣayā// pṛthvāyaibhrātṛbhiḥ sārdhaṁ dyaustadā taṁ jahāra gām/ tayā
kamalapatrākṣyā niyukto dyaustadā nṛpa// ṛṣestasya tapastīvrāṁ na śaśāka nirīkṣitum/
hṛtā gauḥ sā sadā tena prapātastu na tarkitaḥ// *Mahābhārata, Ādiparvan*, 99.26-28
१९. jñātvā tathāpanītāṁ tām vasubhirdivyadarśanaḥ/ yayau krodhavaśaṁ sadyaḥ śaśāpa ca
vasuṁstadā// *Ibid.*, 99.31
२०. priyaviśleṣādihetuparaduḥkhāpādakasvamanovikāraḥ krodhaḥ//
Varavaramuni's Commentary on *Bhagavad Gītā*, 2.56
२१. priyaviśleṣādihetuparaduḥkhāpādakasvamanovikāraḥ krodhaḥ// *Ibid.*, 2.56
२२. jñātvā tathāpanītāṁ tām vasubhirdivyadarśanaḥ/ yayau krodhavaśaṁ sadyaḥ śaśāpa ca
vasuṁstadā// yasmānme vasavo jahnurgam vai dogdhṛīm suvāladhim/ tasmāt sarve
janiṣyanti mānuṣeṣu na saṁśayaḥ// *Mahābhārata, Ādiparvan*, 99.31-32
२३. jñātvā tathāpanītāṁ tām vasubhirdivyadarśanaḥ/ yayau krodhavaśaṁ sadyaḥ śaśāpa ca
vasuṁstadā// *Ibid.*, 99.31
२४. krodhaśca ātmanaḥ pratikuleṣu duḥkhahetuṣu dṛśyamāṇeṣu śrūṁ māṇeṣu smaryamāṇeṣu
vā yaḥ dveṣaḥ saḥ krodhaḥ; tau kāmakrodhau udbhavaḥ yasya vegasya saḥ
kāmakrodhodbhavaḥ vegah// *Śrīmad Bhagavad Gītā Bhāṣya* of Śrī Śaṅkarācārya, 5.23
-

curse of Paraśurāma to Karṇa. According to the *Mahābhārata*, Karṇa was cursed by Paraśurāma because Karṇa had lied about his identity. This act of Karṇa is the cause of the anger of Paraśurāma. Paraśurāma was a cultured person. Still, he was affected by his anger. After getting angry Paraśurāma cursed Karṇa that all the knowledge which Karṇa had acquired by using false identity would no longer help him when he would need it the most.^{२५}. But, because of the anger Paraśurāma felt the emotion called pain. Therefore, he had told Karṇa that he could use Brahmāstra all the time except at that particular time when his death was approaching. He could not use it to protect himself from his upcoming death^{२६}. Rāmacandra and Guṇacandra give definition to anger as being possessed by intense heat of the mind. That intense heat of the mind can cause the hatred and desire to do harm. According to them, anger is the cause of casting the wrong-doer. Mental heat and agony consume the mind. The mental heat and agony do not cool down until the angry person wreaks vengeance upon the wrong-doer^{२७}. According to the *Kāvyānuśāsana* of Hemachandra the expressions of anger are- blood shot eyes, frowning, grinding of teeth, throbbing the cheeks, biting the lips, clenching the fists, thumping the fists, beating, throwing on the ground, throwing weapons etc^{२८}. It can be seen in the case of the curse of sage Maitreya to Duryodhana. Duryodhana was cursed by sage Maitreya because Duryodhana had insulted sage Maitreya by not listening to the words of the sage. This act of Duryodhana has caused the anger in sage Maitreya^{२९}. Because of the anger sage Maitreya could not control his mind. Sage Maitreya has decided to punish Duryodhana to show his vengeance towards Duryodhana and to cool down from his temper. Then sage

२५. yasmānmithyopacaritohyastralobhādihatvayā/
tasmādetaddhitemūḍabrahmāstraṁpratibhāsyanti//
anyatravadhakālātesadṛśenasamīyuṣaḥ/ abrahmaṇenahibrahmadhruvanṛtiṣṭhet
kadācan// *Mahābhārata, Śāntiparva*, 3.30-31

२६. anyatra tasmāt tava mṛtyukālādbrahmaṇe brahma na hi dhruvaṁ syāt/ tadadya
payaptimatīva cāstramasmin saṁgrāme tumul'tīva bhīme// *Mahābhārata, Karṇaparvan*, 42.9

२७. *Nāṭyadarpaṇa of Rāmachandra and Guṇacandra*, Government Oriental Series, Baroda, p.176

२८. dārāpahāradeśajātyabhijanavidyākarmaṇindāsatyavacanaprabhṛtyādhiḥkṣepopahāsavā-
kpāruṣyadrohamātsryādivibhāvonayanarāgabhrukuṭikarāṇadantausthapīdanagaṇḍasphuraṇaḥ
astāgraniḥpeṣatādanapāṭanapīdanapraharaṇāharaṇasāstrasaṁpātarudhirākaraṇacchedanānub
hāva augryāvegotsāhvibodhāmaṣacāpalādivyabhicārī krodhaḥ sthāyibhāscarvaṇīyatām prāpto
raudro rasaḥ// *Kāvyānuśāsana of Hemachandra*, p.76

२९. dṛṣṭvā duryodhanaṁ rājan maitreyaṁ kopa āviśat/ sa kopavaśamāpanno maitreyo
munisattamaḥ// *Mahābhārata, Vanaparvan*, 10.31

Maitreya with his blood shot eyes has taken water in his hand and has cursed Duryodhana^{३०}. The sage has cursed Duryodhana that for him a great war will happen and, in that war, Bhīmasena will break his thigh with a blow of the mace of Bhīma.^{३१} Here sage Maitreya shows his anger by blood shot eyes and by cursing Duryodhana as his punishment.

Again, the emotion anger can be seen in the curse of Urvaśī to Arjuna. According to the *Mahābhārata*, Arjuna has cursed by Urvaśī because Arjuna has rejected the proposal of Urvaśī of physical union with her by giving association in between Urvaśī and the forefathers of Arjuna^{३२}. When Arjuna has rejected the proposal of Urvaśī; Urvaśī has felt distress in her mind. For Urvaśī Arjuna is her desirable person and Arjuna has snatched himself away from Urvaśī. As earlier has said anger is caused by the separation of the cherished object or person^{३३}. Urvaśī has shown her anger by the trembling of her body and frowning her eyebrows^{३४}. Finally, Urvaśī has vent her anger by cursing Arjunato be a eunuch.^{३५} But Indra- the biological father of Arjuna changed the time period for this curse into a year.^{३६} Then only the mental heat and agony of Urvaśī has cool down and she has taken a deep breath^{३७}. As Viśvanātha says that

-
३०. vidhinā sampraṇuditaḥ śāpāyasya mano dadhe/ tataḥ sa vāyurpasprśya
kopasaṁraktalocanaḥ/ maitreyo dhārtarāṣṭraṁ tamaśapad duṣṭacetasaṁ// *Ibid.*, 10.32
३१. tvadbhidrohasaṁyuktaṁ yudhamutpatsyate mahat/ tatra bhīmo gadāghātaistavoruṁ
bhetsyate balī// *Ibid.*, 10.34
३२. iyaṁ pauraṁvamaṁsasya janaṁ muditeti ha/ tvāmahaṁ dṛṣṭvāṁstatra
vijñāyotphullalocanaḥ// na māmarhasi kalyāṇi anyathā dhyātumapsaraḥ/ gurorgurutarā
me tvaṁ mama tvaṁ vaṁśavardhiniḥ// *Mahābhārata, Vanaparvan*, 46.40-41
३३. tvadguṇākṛṣṭacittāhamanaṅgavaśamāgatā/ cirābhilaṣito vīra mamāpyeṣa manorathaḥ//
Ibid., 46.35 yathā kuntī ca mādri ca śaci caiva mamānaghe/ tathā ca vaṁśajanaṁ tvaṁ
hi me'dya garīyāsi/ gaccha mūrdhnā prapanno'smi pādaḥ te varavarṇini/ tvaṁ hi me
mātṛvat pūjyā rakṣyo'haṁ putravat tvayā// *Ibid.*, 46.46-47
३४. priyaviśleṣāpriyāgamaṇahetubhṛtacetanāntaragataduḥkhaḥetusvamanovikāraḥ krodhaḥ
tadrahitaḥ// Rāmānuja's Commentary on *Bhagavad Gītā*, 2.56
३५. evamuktā tu pārthena urvaśī krodhamūrcchitā/ vepantī bhrukuṭivakrā śāśāpātha
dhananījayam// *Mahābhārata, Vanaparvan*, 46.48
३६. tava pitrābhyanujñātāṁ svayaṁ ca gṛhamāgatam/ yasmānmām nābhinandethaḥ
kāmaḥāṇavaṁśagatāḥ// *Ibid.*, 46.49 tasmāt tvaṁ nartanaḥ pārtha strīmaddhye
mānavarjitaḥ/ apumāniti vikhyātaḥ ṣaṇḍavad vicariṣyasi// *Ibid.*, 46.50
३७. ṛṣayo'pi hi dhairyeṇa jita vai te mahābhūja/ yat tu dattavatī śāpamurvaśī tava mānada// sa
cāpi te'rthakṛt tāta sādhaśca bhaviṣyati/ ajñātavāso vastavyo bhavadbhirbhūtaḥ' naga/
varṣe trayodaśe vīra tatra tvaṁ kṣapayīṣyasi// *Ibid.*, 46.56-58
३८. evaṁ dattvārjune śāpaṁ sphuradoṣṭhi śvasantyatha/ punaḥ pratyāgatā kṣipramurvaśī gṛhamātmanaḥ// *Ibid.*, 46.51
-

trembling of the body is the definition of hatred^{३८}. Here, in the case of Urvaśī, she has shown that body language to show her anger and hatred towards Arjuna.

A similar account of the emotion of anger is found in the western psychology also. According to western psychologists Mellone and Drummond, anger is an emotion which is characterized by a tendency to break the opposition down. The main characteristic attitudes of anger are active resistance and aggression^{३९}. Another western psychologist Darwin in his book *The Expressions of Emotions in Man and Animals* shows the expressions of anger. Those expressions of anger are- if the anger is moderate then the action of the heart is little increased. The colour of the body increased and the eyes became bright. The respiration is likewise a little hurried. The mouth is compressed and has frown on the brow. The angry man unconsciously throws himself into an attitude ready for attacking enemy. The fists are commonly clenched^{४०}. The curse of Urvaśī can be seen through these expressions of emotions which are described by Darwin. After the rejection of Arjuna, the body of Urvaśī has trembled and because of that her heart rate has increased. She has frown in her eyebrows because of her anger. Finally, she has attacked Arjuna with a curse as his punishment^{४१}. So, the anger of Urvaśī has reached its final stage by inflicting vengeance on Arjuna.

Grief: Grief is another emotion of the human mind which can be the cause of the curses of the *Mahābhārata*. Grief associated with anger can be the cause of the curses of the *Mahābhārata*. Buddhaghōṣa gives definition to sorrow as a burning of the mind because of the loss of relatives. Grief is a mental pain which is caused by the mental oppression. The function of grief is to distress the mind. Grief is defined as a mental state that makes the mind very unpeaceful. Grief is a suffering of the mind and produces bodily suffering. Grief is expressed by the tearing of the hair, weeping, striking the breast, twisting and writhing and undergoing many kinds of suffering^{४२}. Again, according to Śāṅkarācārya Grief is a mental agony. This grief can be caused by the loss of cherished

३८. rāgadveṣaśramādibhyaḥ kampo gātrasya vepathuḥ// *Sāhityadarpaṇa*, 3.138

३९. c.f. David, K. Rech and Crut Chfield, Richard S. and Livson, Norman and Willson Jr., A. William and Parducci, Allen; *The Elements of Psychology*, 6th ed., p.252.

४०. c.f. Charles, Darwin, *The Expression of the Emotions in Man and Animals*; 1921, p.255

४१. evamuktā tu pārthena urvaśī krodhamūrcchitā/ vepantī bhrukuṭīvakrā śaśāpātha dhananījayam// *Mahābhārata*, *Vanaparvan*, 46.48 evaṁ dattvārjune śāpaṁ sphuradoṣṭhī śvasantyatha/ punaḥ pratyāgatā kṣipramurvaśī gr̥hamātmanah// *Ibid.*, 46.51

४२. c.f. Buddhaghōṣa's Visuddhimagga, The Path of Purification. Translated from Pāli by Bhikkhu Ñāṇamoli. Chapter 16, p.516

object or a beloved person^{४३}. According to Madhusudana in the state of grief the mind is perplexed because of the death of beloved persons who are identified with the self. Grief is caused by the death of wife, sons, relatives, cattle and the like^{४४}. Again, Viśvanātha gives definition to grief as an affliction of the mind because of the loss of cherished objects and because of facing the calamity^{४५}. Again, according to Jagannātha grief is an affliction of the mind because of the death of the sons etc^{४६}. The curse of Gāndhārī can be seen from these perspectives of grief. Gāndhārī was a queen of Hastināpura and she had cursed Kṛṣṇa because of the annihilation of her entire family. According to her Kṛṣṇa could have stopped the war between the Pāṇḍavas and the Kauravas. But Kṛṣṇa did nothing to stop the war. Because of the war Gāndhārī had lost all of her sons and grandsons which had caused her immense mental pain and grief. When Kṛṣṇa had gone to console distressed Gāndhārī, Gāndhārī had cried her eyes out^{४७}. Viśvanātha regards shedding tears as the expression of grief^{४८}. Later her grief had turned into anger and she had blamed Kṛṣṇa for the death of her sons. The death of the sons of Gāndhārī was the prime cause of her grief. Then the grief of Gāndhārī had turned into anger. The body of Gāndhārī had trembled because of her anger. She had lost her mental capacity of thinking because of her grief. Therefore, Gāndhārī had cursed Kṛṣṇa that like hers the Yadu clan would be destroyed by fighting among themselves^{४९}.

-
४३. aniṣṭaprapṛtau iṣṭaviyoge ca śokaḥ// *Śrīmad Bhagavad Gītā Bhāṣya* of Śrī Śaṅkarācārya, 18.27
 ४४. Madhusudana's Commentary on *Bhagavad Gītā*, 1.27
 ४५. iṣṭanāśādniṣṭāpteḥ karuṇākhyo raso bhavet/ dhīraiḥ kapotavarṇoyam kathito yamadaivataḥ// śoko'tra sthāyibhāvaḥ syācchocyamāmbanāni matam/ tasya dāhādikāvasthā bhaveduddīpanam punaḥ// *Sāhityadarpaṇa*, 3.222-223
 ४६. apahāya sakalabāndhavadacintāmudvāsyā gurukulapraṇayam/ hā tanaya vinayaśālinkathamiva paralokapathiko'bhūḥ// *Rasagāṅgādhara*, Nirṇaya Sagara, 1894, p.35
 ४७. ityuktvā nyapatad bhūmau gāndhārī śokamūrcchitā/ duḥkhopahatavijñānā dhairyamutsṛjya bhārata// tataḥ kopaparītāṅgī putraśokapariplutā/ jagāma śaurim doṣeṇa gāndhārī vyathitendriyā// *Mahābhārata, Strīparvan*, 25.37-38
 ४८. āsru naitrodbhavam vāri krodhaduḥkhopaharṣajam// *Sāhityadarpaṇa*, 3.139
 ४९. patiśuśruṣayāyanmetapaḥkimcidupātjitam/ tenatvāṁduravāpena śapsyecakragadādhara// yasmātparasparamdhnantījñātayaḥ kurupāṇḍavāḥ/ apekṣitāstegovindatasamānjñātīnvadhiṣyasi// tvamapyupasthitevarṣe ṣaṭtrimśadhusūdana/ vṛtajñātirhatāmātyohataputrovanecaraḥ// anāthavadavijñātolokeṣvanabhilakṣtitaḥ/ kutsitenābhyupāyenanidhanamsamavāpsyasi// tavāpyevam hatasutānihatajñātībāndhavāḥ/ striyaḥparipatiṣyantiyathaitābharatastriyaḥ// *Mahābhārata, Strīparvan*, 25.42-46
-

The concept of grief can also be seen in the case of Pāṇḍu when Pāṇḍu has cursed by sage Kindama. Sage Kindama has cursed Pāṇḍu that Pāṇḍu will face his death when he will try to be intimate with his wife^{५०}. Because of this curse Pāṇḍu will never be the father of his own children. This thought has wrecked Pāṇḍu. Pāṇḍu has lost his children even before they are born. Because of that, sadness has overpowered to Pāṇḍu and he has started crying. The crying is the main expression of grief^{५१}. Pāṇḍu has cried his eyes out and he has started breathing heavily^{५२}. After that to remorse Pāṇḍu has decided to retire to forest^{५३}.

Revenge: Hemachandra gives definition to revenge as the desire to retaliate on a person who is superior in learning and wealth and who abuses another person^{५४}. According to Viśvanātha revenge is caused by the abuse, insult and the like. Revenge is determination to cause harm to the malefactor who is responsible for the abuse and insult^{५५}. It can be seen in the curse of Kṛṣṇa to Aśvatthāmā. Aśvatthāmā was a son of Droṇācārya and a friend of Duryodhana. After the inglorious war between Bhīma and Duryodhana, Duryodhana was waiting for his death. At his death bed, Duryodhana had appointed Aśvatthāmā as the captain of the soldiers of the Kauravas. The Pāṇḍavas did very wrong to Duryodhana. Duryodhana was defeated by Bhīma in a wrongful manner by hitting the thighs of Duryodhana with the mace of Bhīma. It was insult and abuse to Duryodhana. As the friend of Duryodhana, Aśvatthāmā could not bear this abuse and insult of Bhīma to Duryodhana. After seeing the unbearable state of his friend, Aśvatthāmā with full of anger and revenge told Duryodhana that Aśvatthāmā would get the revenge of his friend by killing the Pāṇḍavas^{५६}. As promised Aśvatthāmā did kill the five sons of Draupadī and Dhṛṣṭadyumṇa. Aśvatthāmā even tried to kill the unborn child of Uttarā by projecting

-
५०. priyayā saha saṁvāsam prāpya kāmavimohitaḥ/ tvamapyasyāstavasthāyaṁ pretalokaṁ gamiṣyasi//
antaloke hi saṁvāsam yayā gantāsi kāntayā/ pretarājapuram prāptam sarvabhūtataduratayam/ bhaktyā
matimatām śreṣṭha saiva tvānugamiṣyati// *Ibid.*, *Ādiparvan*, 117.32
५१. tam vyatītamatikramya rājā svamiva bāndhavam/ sabhāryaḥ śokaduḥkhārtaḥ
paryadevadadayadāturaḥ// *Ibid.*, 18.1
५२. evamuktā suduḥkhārto niḥśvāsaparamo nṛpaḥ/ avekṣamāṇaḥ kuntīm ca mādriṁ ca
samabhāṣata// *Ibid.*, 18.23
५३. prasādyā sarve vaktavyāḥ pāṇḍuḥ pravrajito vanam// *Ibid.*, 18.25
५४. amarṣaḥ praticikīrṣā// *Kāvyaṇuśāsana of Hemachandra*, chapter 2, p.85
५५. nindākṣepāpamānāderamarṣo'bhiniṣṭatā/
netrarāgaśiraḥkampabhrūbhaṅgottarjanādikṛt// *Sāhityadarpaṇa*, 3.156
५६. tathā dṛṣṭvā to rājānam bāṣpaśokasamanvitam// drauṇiḥ krodhena jajvāla yathā vahnirjagatkṣaye/
sa ca krodhasamāviṣṭaḥ pāṇau pāṇim nipīḍya ca// bāṣpavihvalayā vācā rājānamidamabravīt/ pitā
me nihataḥ kṣudraiḥ sunṣamsena karmaṇā// na tathā tena tapyāmi yathā rājānstvayādyā vai/
śṛṇu cedam vaco mahyam satyena vadataḥ prabho// iṣṭāpūrtena dānena dharmeṇa sukṛtena ca/
adyāham sarvapāñcālan vāsudevasya paśyataḥ// sarvopāyairhi neṣyāmi pretarājaniveśanam/
anujñān tu mahārāja bhavān me dātumarhati// *Mahābhārata, Souptikaparvan*, 65.32-37

Brahmāstra^{५७}. He did all of this to get revenge of the insult and abuse of Duryodhana from the Pāṇḍavas. As Viśvanātha says revenge is a determination to cause harm to the malefactor who is responsible for the abuse and insult^{५८}. For Āśvatthāmā, Pāṇḍavas are the malefactors because they are responsible for the abuse and insult of Duryodhana. Because of that Āśvatthāmā has done that terrible deed which has caused the anger of Kṛṣṇa. After getting triggered by the anger to punish Āśvatthāmā, Kṛṣṇa has cursed Āśvatthāmā that he would roam in jungles with his wounds and pain. He would plead for death but he would not die. He would have to carry the burden of his sins for 3000 years until the end of the last epoch^{५९}. So, the emotion revenge of the mind of the curse bearer can promote the way to getting the curse.

Conclusion: By this discussion it can be said that these curses of the epic have psychological effects. Curses are the result of the negative happenings in the mind of the curse giver. These negative happenings are based on the surrounding environments and absolute trigger points. Being influenced by the trigger points and surrounding environments the curse giver pronounces the curse to the recipient. The curses of the *Mahābhārata*, can also be projected on the basis of the modern theory of emotion. Emotions are the cause of any actions of human being. So, these emotions of curse giver play an important role in the process of uttering a curse. In the *Mahābhārata* all these curses work as effective strategies to place the whole story in a lucid manner. So that the reader can get the story without any hindrance. But this side of the curse can be the base to call Vedavyāsa is a psychotherapist.

---O---

-
५७. etadastramataścaivagarbheṣuvisṛjāmyaham/
 nacavākyam̐bhagavatonaḥkariṣyemahāmune//
 evaṁkurunacānyātubuddhiḥkāryātvyānagha/
 garbheṣupāṇḍaveyānāmvistṛjyaitadupāram//
 tataḥparamamastram̐tudroṇirudyatamāhate/ dvaipāyanavacaḥ
 śrutvāgarbheṣupramumocaha// *Ibid.*, 15.33-36
५८. nindākṣepāpamānāderamarṣo'bhiniṣṭatā/
 netraṛāgaśiraḥkampabhrūbhaṅgottarjanādikṛt// *Sāhityadarpaṇa*, 3.156
५९. tvāntukāpurūṣaṁpāpam̐viduḥsarvemaṇiṣiṇaḥ/
 asaḥkṛtpāpakarmaṇambālajīvitaghātakam//
 tasmātvamasyapāpasyakarmaṇaḥphalamāpnuhi/
 trīṇivarṣasahasrāṇicariṣyasimahīmimām// aprāpnuvankvacitkāñcitsam̐vidam̐jātukenacit/
 nirjanānasahāyastvam̐deśānpravacariṣyasi//
 bhavitṛṇahitekṣudrajanamadhyeṣusarṁsthitaḥ/
 pūyaśoṇitagandhīcadurgakāntārasam̐śrayaḥ// *Mahābhārata, Souptikaparva*, 16.9-12
-

A Computational Approach from Polymorphism to Free Variation in Sanskrit Phonology

Dr. Suhasini

Fellow, Indian Institute of Advance Study, Shimla

Polymorphism, or Bahurūpatā, refers to the occurrence of multiple pronunciations of a word resulting from phonetic or phonological variations. These variations, however, do not alter the word's meaning. The same is inferred from what is also suggested by dvirūpakoṣa-s in Sanskrit (as Bharatasena defines in his dvirūpadhvanisaṁgraha) . In Sanskrit and Prakrit group of languages, there are many such words which exhibit two or more phonetic variations. For example- amāmasī~amāmāsī~amāvāsī~amāvasī~āmāvasī. Despite these variations in pronunciation, the semantic integrity of the words remains unchanged. This phenomenon leads to the formation of multiple forms of the same word, collectively known as bahurūpaśabda. If there are only two forms available for such an instance, it is known as dvirūpa śabda. Popularly, the term dimorphism (dvirūpatā) is synonymously used for polymorphism all across the tradition.

The concept of Free Variation comes hand in hand with this. In phonology, the principle of distribution is fundamental in identifying and categorizing phonemes. This distribution can be classified into three primary types:

1. Contrastive Distribution –This occurs when two sounds appear in the same phonetic environment and create a difference in meaning. Such sounds represent distinct phonemes, and a minimal pair is formed due to this phonemic difference in the same environment.
2. Complementary Distribution –In this case, two or more sounds appear in mutually exclusive environments, meaning they do not appear in the same phonetic environment. Typically, such sounds are allophones of the same phoneme, and their occurrence is governed by specific phonological rules.
3. Free Distribution or Free Variation –This refers to situations where two sounds occur in the same environment without altering meaning or being conditioned by linguistic rules, but are neither contrastive nor functional. Free variation is often shaped by speakers' preferences, social influences, or stylistic factors, reflecting the inherent flexibility of human language due to socio-linguistic and geo-environmental diversity.

Key Characteristics of Free Variation:

- Same Phonemic Environment

- No Semantic Change
- Not Rule-Governed
- Speaker-Dependent

The interchangeable sounds in free variation are termed free variants. These can be independent phonemes or allophones of the same phoneme. Thus, free variation is categorized into two types:

- Phonemic Free Variation
- Allophonic Free Variation

Examining the Sanskrit language through the lens of modern phonology's theory of free variation reveals instances of phonemic free variation in abundance. The identification of allophonic free variation in Sanskrit remains ambiguous due to the absence of native speakers today. The limited number of speakers (including students and teachers of the language) follow the standardized manner of articulation, necessitating reliance on written sources (various śikṣā-s and prāṭisākhya-s) for such analyses. Hence, we are going to consider only the former type here.

Sources for Polymorphs and Free Variants in Sanskrit

In the Sanskrit tradition of compiling koṣa-s (lexicons), there exists a distinct category known as Dvirūpakoṣa, which record the words showing dimorphism (or polymorphism). These lexicons can be regarded as a specialized form of samānārthaka-koṣa-s (synonymous dictionaries). Dvirūpakoṣa-s document words that have multiple pronunciation variants recognized within the language. Puruṣottama's Dvirūpakoṣa, Maheśvara's Śabdaprabhedakoṣa, Śrīharṣa's Dvirūpādikoṣa, Bharatasena's Dvirūpadhvanisaṅgraha are some of the major dvirūpakoṣas.

Just like the lexical sources, grammatical sources like Dhātupāṭha, Gaṇapāṭha, Uṇāḍipāṭha, Sūtrapāṭha of various Sanskrit grammars by eminent grammarians like Kāśakṛtsna, Pāṇini, Śarvavarman, Candragomin, Jainendra, Bopadeva, Śākaṭāyana, Bhojarāja, Hemacandra, Verdhamaṇa etc. can be studied to find the instances of polymorphism.

Reasons for Polymorphism and Free Variation in Sanskrit

For approaching a phonological phenomenon like free variation from a computational point of view, it is essential to first understand its reasons. A list of such possible reasons follows:

- Phonetics and Phonology: Articulation, Phonemic Environment, Sound Change etc.
- Linguistic Borrowing: Regional Varieties, Phonological Borrowing, Loan Words etc.
- Orthographic Variations: Illegible Writing, Ambiguous Script, Stroke Order etc.
- Ignorance of Semantic Difference: Prolonged Ignorance, Colloquial Acceptance etc.
- Deletion of Phones: Sound Omission

- Literature: Prosodic Requirements, Poetic Features etc.
- Sociolinguistic Factors: Emulating Upper Class, Auditory Interestingness etc.

Terms Used

Free Variation Symbol: The symbol “~” is used to show the free variant relationship.
Free Variants: Two phonemes in free variation are referred to as Free Variant Pair (FVP).
Free Variation Category: Based on the classification of letters in the varṇamālā, the classification of free variants is defined as Free Variation Categories (FVC). For Example- plosive~approximant, guttural~palatal, sibilant~sibilant, nasal~non-nasal etc.
Free Variation Instance: The word pairs/groups exemplifying free variation are termed Free Variation Instance (FVI). For example- mukuṭa~makuṭa, apācī~avācī etc.

Eligibility Criteria for FVI Selection for Computational Analysis

Letter-specific Parameters

- The difference in the accent of vowels (udātta, anudātta and svarita) is specific to vedas and not really practised in classical literature and speech. Therefore, this difference is not considered.
- Only monomoraic (hrasva) and bimoraic (dīrgha) forms of the vowels are considered. Trimoraic (pluta) vowels are not considered because they do not have any practical significance in the context of free variation. Since Pāṇini has omitted the bimoraic vowel “ṛ” and it is not found anywhere in the text and speech, it is also not considered.
- Nasal forms of the vowels are also not practically used. Thus, they are not considered.
- The consonant “ḷ” is there in the vaidika texts but it is not practically used in classical and modern Sanskrit literature, and in standard speech. Hence, it is not considered for computational analyses.
- The nasal allophones of the approximants “y”, “v” and “l” along with the yamakṣara-s are also not considered due to the same practical reasons.

Word-specific Parameters

- Due to the difference in the algorithm of word selection, the words obtained from different sources are divided into two classes- verbal (dhatu) and non-verbal (adhātu). In both the cases, we have to remove the vibhakti (markers or suffixes indicating person, case and number) first.
- The aupadeśika or sānudandha forms (root forms marked with the indicatory it letters) of the verbal class are meant only for accomplishing the grammatical derivational processes. Therefore, the niranubandha forms (root forms not marked with the indicatory it letters) of the verbal class are considered. The 18 tiṇ suffixes become irrelevant.

- Under the non-verbal class, only the prātipadika forms (nominal stem forms) are compared. The 21 sup suffixes are irrelevant here.

Category-specific Parameters

- Since the classification of categories corresponds to the classification of the letters, there can be two types of categories-

1. Even Categories –The FVC where both the free variants belong to the same letter class. For example- voiced~voiced (a~ā, d~ḍ), aspirated~aspirated (kh~gh) etc.

2. Odd Categories- The FVC where both the free variants belong to different letter classes. For example- plosive~approximant (k~y, k~v), monomoraic~bimoraic (a~ā, u~ū) etc.

- Had there been sufficient evidence to determine the temporal precedence of the words in an FVI, it could be considered. Therefore, in this uncertain state, the number of all possible odd categories is already halved. For example- FVCs like monomoraic~bimoraic and bimoraic~monomoraic need not be treated differently because we cannot confidently determine the temporal precedence of the words involved in creating FVIs for these categories. However, it can be a subject of a separate study and its conclusions can be utilized here while creating the corpora and then both types of odd categories can be considered.

- The computational analysis should be performed only under the broad FVC of vowel~vowel and consonant~consonant. There are negligible instances of vowel~consonant free variation which can otherwise be theoretically discussed. The same is the case with consonant~consonant+consonant (eg.khurapra~kṣurapra). Cases of vowel~consonant+vowel (eg.ṛśya~riśya) are also already not considered.

- Dhātu~Adhātu type of FVC is out of context here as such FVIs are either irrelevant or practically not found.

Filtering Algorithm for Word Selection and FVC Identification Process

The objective of this process is to create FVPs from the word lists obtained from different sources according to the above-mentioned eligibility criteria and to place them in appropriate categories for analysis. The step-by-step detailed algorithm goes as under:

1. Start with knowing the criteria:

As per the aforesaid criteria, mark if an input word is verbal or non-verbal take all input along with the meaning. For verbal words, record the additional information of gaṇa and pada. For non-verbal words, record the additional information of gender.

2. Create objects to store data:

Maintain separate objects for both these classes of words- Verbal Class List (VCL) and Non-verbal Class List (NCL)- respectively. The members of a list are to be compared amongst themselves only. The members of one list will not be compared with the members of the other list at any stage.

In case of VCL, go to Step #4. In case of NCL, go to Step #5.

3. For the members of VCL, follow the following consequent steps:

3(a). It Sañjña Deletion: Retrieve the niranubandha form by removing all the indicatory markers as per Paninian grammar.

3(b). Gaṇa Comparison:- In the Dhātupāṭha, the dhātu-s are divided in 10 different gaṇa-s. Since this difference affects their final forms which are actually used in the language, mark this difference because the comparison can be made amongst the dhātu-s falling under the same gaṇa.

3(c). Meaning Comparison:- Within a gaṇa, compare the meanings of the dhātu-s. Mark the dhātu-s with the same meaning. Remove the rest.

3(d). Pada Comparison:- Within a gaṇa, keep the dhātu-s with the same meaning together based on their being ātmanepadī or parasmaipadī. Just like gaṇa, pada is also responsible for change in the final verbal forms.

Go to Step #5.

4. For the members of NCL, follow the following consequent steps:

4(a). Meaning Comparison:- Being polymorphs and sourced mostly from the dvirūpakoṣa-s, they already have a certain degree of phonemic affinity. Mark the synonymous words and keep them together.

4(b). Gender Comparison:- Since Sanskrit koṣa-s have their own style of compilation, they are generally compiled in a prosodic manner, which means the words compiled are always with some vibhakti because they are used in a sentence. Gender is an indicator of identity and implies change in meaning. Thus, mark the genders and remove the words which have similar meaning but different genders.

4(c). Sup Suffixes' Deletion:- Generally, the words are found in one of the forms of the nominative case. Hence, it is required to know their nominal stem form. Thus, remove the sup suffixes and retrieve their prātipadika forms of the words with the same meaning and gender.

4(d). Last Phoneme Comparison:- The nominal stem forms are now put to the comparison of the last phoneme. If it is same, mark them and keep them together. In case of indeclinables, this is good. For the rest of the cases, one might want to make certain exceptions if the majority of the final 21 forms actually show auditory similarity. For example- feminine nominal stems ending with ā and ī, and i and ī, masculine nominal stems ending with a and i, and a and u can be kept.

Go to Step #5.

5. Phonemic Segmentation:- Since Sanskrit and majority of other Indic languages already use phonemic scripts (or syllabaries with an inherent schwa), it is very easy to break the vartanī

(spelling of a word) into its phonemic segments even without IPA. We can do it in IAST or Devanāgarī itself. Every computational analysis depends upon the correctness of this step. For example- the words daka and daga will become [d, a, k, a] and [d, a, g, a] respectively in this step.

6. Phonemic Count Comparison:- In the phonemic segmentation, compare the words for equal length and keep them together. This will handle the cases of phonemic deletion and insertion (including the cases of dīvalike prapunāḍa~prapunnāḍa) leaving us with the words with the same meaning in all senses and same phonemic count.

7. Environment Comparison:- Check the phonemic environment of each word in a group and remove the words from the group which do not have the identical environment with the rest of the words in that group. When we reach this step, we almost have a list of FVIs instead of the initial list of input words and consecutive sub-lists of filtered words. However, there are still a few pairs/groups of words with small letter count left which have same meaning, gender and word length but not all of them have the same environment. For example- we get a word-group [ś, a, y, a], [ś, a, y, u], [ś, ī, r, a] and [ś, ī, n, a]. They can make 6 word-pairs. It is evident that not all of these pairs can be FVIs. Only śaya~śayu and śīra~śīna are the desired FVIs. Hence, it is essentially required to check the phonemic environment. This is a very critical step that also handles the cases of metathesis and filters them out.

8. FVI Determination:- List the Free Variation Instances with two phonemically segmented words connected with a “~” symbol as a member. For example- [p, e, l]~[ś, e, l] makes one FVI and so on. Instead of a list of words, a list of FVIs is finally created in this step.

9. FVP Identification:- Remove all the common phonemes in the FVIs and obtain the Free Variant Pair. For example- [n, i, c, u, l, a]~[p, i, c, u, l, a] will give [n]~[p]. Once the FVPs are identified, category annotation can be done.

10. FVC Identification:- Since the categories are corresponding to the classification of the letters, identify and mark as many FVCs as desired for the FVPs identified in accordance with the aforementioned criteria.

Output (as input for other statistical analyses) and Results:

Depending upon the result of this algorithm, we could make many statistical findings and analyze the pattern of free variation in Sanskrit. To mention a few basic and major statistical findings:

1. There are 38 vowel-vowel and 221 consonant~consonant FVPs found in Sanskrit.
2. Non-verbal word forms show almost 6 times higher tendency of free variation than verbal word forms.
3. Vowels are approximately 7 times more likely to show free variation than consonants.

4. Vowel FVPs with the same place of articulation show approximately 11 times higher tendency of free variation than the vowel FVPs with different places of articulation. Consonants show almost indifferent behaviour in this case.
5. The ratio of the tendency of free variation shown by the FVPs with diphthongs at both sides and other vowels at both sides is 1:7.5.
6. Approximately 55% of the words showing free variation have the phonemic count of 6-8.
7. Proximity of the places of articulation turned out to be the most prominent reason for free variation. Orthographic similarity and linguistic borrowing are together at the same next level.
8. Semi-vowels show free variation in the order [y<v<r<l] which is inversely proportional to that exhibited by their corresponding vowels [ɪ<ɪ̄<u/ū<i/ī].
9. Amongst the plosive consonants, the tendency of free variation is directly proportional to their being unaspirated.
10. The tendency of free variation amongst sibilants is directly proportional to their being fricative and inversely proportional to their being voiced.
11. The tendency of free variation is exhibited in the order:
Monophthongs>Diphthongs>Semi-vowels> Sibilants > Plosives

Disclaimer:- These results are just a glimpse of what kind of statistical conclusions we can draw when input is fed to the algorithm developed by the author. These outcomes are purely based on the input given based on the data collected from different sources based on the study by the author and the statistical approach implemented by her. The results may vary depending upon the user input and change in statistical methods.

Conclusion- The algorithm discussed above opens new doors for researches in Sanskrit Linguistics. It highlights and explains in detail the method to approach free variation with proper reasoning. It paves the way for Computational Linguists to look into Sanskrit and other languages of the same linguistic tradition (such as Prakrit, Persian and Modern Indic Languages) with a modern linguistic lens. At the same time, it establishes the fact stated by W. S. Allen that the link between the ancient Indian and modern western school of Linguistics is considerably closer in Phonetics than in grammar.

---O---

Sabhā, Samiti and Vidatha : Concept of Political Representative Institutions of Ancient India

Dr. Mridusmita Bharadwaj

Assistant Professor, Sanskrit Department, Pandu College

The existence of representative parliamentary bodies could be traced back to the Vedic age. The *Vedās, Upanisads, Mahābhārata, Rāmāyaṇa, Purāṇas, Smṛtis* represent the ancient Indian political thoughts. *Sabhā, Samiti* and *Vidatha* were the political representative institutions in the Vedic period. Like in modern times, the two houses of Indian parliament function in lawmaking, oversight, and representation; *Sabhā, Samiti* and *Vidatha* also served the same way in the Vedic age. The *Ṛgveda and Atharvaveda* have many references that throw light on the functions and significance of *Sabhā, Samiti* and *Vidatha*. These institutions witness that early Indian political thoughts and activities were rooted in collective decision-making managed through a systematised process.

Methodology: - The methodology of the research will be entirely qualitative. On the basis of the secondary information, the data are analyzed for interpretation. The texts of the *Ṛgveda and Atharvaveda* are studied where the references on *Sabhā, Samiti* and *Vidatha* are given. Besides, articles, research papers are also studied for interpretations.

Analysis:- As stated in the *Atharvaveda*, *sabhā* and *samiti* are personified as the two daughters of Prajāpati which shows that both are of equal importance. In the *sabhā*, the learned persons assemble and discuss matters related to justice.^१ Professor Macdonell and Keith affirm that *sabhā* is a meeting place for social discussions and general conversations especially for debates and verbal contests.^२ Monier Williams has given the meaning of *sabhā* as an assembly, congregation, meeting, council, public audience.^३ Regarding the significance of the *sabhā* and *samiti*, the *Ṛgveda* mentions that the nation listens carefully to the ruler and the people. The *sabheyā*.e., members of the council intelligently hold

-
१. *sabhā ca māsamitiścāvatāṃprajāpaterduhitarausaṃvidāne /
yenāsaṃgaccāupamāsaṃsāṃsāccāruvadānīpitarāḥsaṃgateṣu // Atharvaveda, 7.12.1*
२. *Ancient Indian Political Thought and Institutions*, p.390
३. *Monier Williams Sanskrit English Dictionary*, p. 1151
-

and manage the wealth and assets of the nation.^४The *Rgveda* mentions the term *sabheyā* which refers to a person who is fit for an assembly or council, civilized, clever, well-behaved and decent.^५This signifies that at the Vedic age, *sabhā* was held to discuss matters basically related to dharma and the polity of the nation. Besides the *Rgveda* also states that a person should make the home filled with peace, prosperity and the bliss of good fortune. However, he should deliver the noble speech in the *sabhā* of the wise and powerful leaders so that the person's life and work get praised and appreciated in the society.^६ This view reflects that the common people who can deliver noble speeches could be a member of *sabhā*.The *Mahābhārata* states that that is not an assembly where there is no elderly person and that is not an elder who does not speak with righteous words, again that is not righteousness where there is no truth and that is not truth which leads one to deceit.^७ So, this signifies that at the age of the *Mahābhārata*, *sabhā* had members of elderly age who always spoke righteous words for which no irrational arguments on any topic could arise and harm the peace of the society. Sanskrit scholars Prof. Macdonell and Keith affirm that *sabhā* is a meeting place for social gathering and general conversation about cows and so forth, possibly for debates and verbal contests.^८

Samiti, a kind of assembly is considered as where the gods were worshipped and the assembly was adorned with the deep thoughts of the sages like people.^९ This reference of the *Rgveda* shows the deep thoughtful matters that were discussed in the *samiti* by learned people.

Vidatha is an important political representative institution of ancient India as it appears from the fact that the *Rgveda* mentions the term *Vidatha* one hundred twelve times and the *Atharvaveda* mentions it twenty-two times.^{१०}The word *Vidatha* can be derived from the root *Vid* which means to know, to possess, to consider and to exist, cf.,

४. utāśiṣṭhā anu śṛinvantivahnayaḥsabheyoviprobharatematīdhanā / *Rgveda*, 2.24.13

५. *Monier Williams Sanskrit English Dictionary*, p. 1151

६. bhadraṁgrhaṁkṛṇṭhabhadravācobṛhadvovayaucyatesabhāsu // *Rgveda*, 6.28.6

७. nasāsabhā yatra nasantivṛddhāḥ, vṛddhāḥ, nate ye navadantidharmam / dharmāḥsa no yatra nasatyamasti, satyārṇnatadyacchalamabhyupaiti // *Mahābhārata*, 5.35.58

८. *Ancient Indian Political Thought and Institutions*, p.362

९. kavirbudhnaṁ pari marmarjyatedhīḥsādevatātāsamitirbabhūva / *Rgveda*, 1.95.8

१०. *Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India*, p.78

vid jñāne vid cāraṇevīdalābhe vid sattāyām / ^{११}According to *Monier Williams Sanskrit English Dictionary*, *Vidath* denotes the knowledge given to others i.e., instruction, direction, order, arrangement, rule, command. Besides, it also means a meeting, assembly, council, community, association, congregation. ^{१२}According to the author of *Hindu Polity*, Jayaswal; the *vidatha* was probably the parent folk assembly from which the *sabhā*, *samiti* and *senā* differentiated. ^{१३} Ram Sharan Sharma has stated one characteristic feature that distinguishes the *sabhā* and *samiti* from the *vidatha* is the association of woman with it. In the *Rgveda*, a single instance is found where it is mentioned that a woman is worthy of going to *sabhā*. The verse refers that the seeker of knowledge should go and mix up with those scholars and visionaries among whom exists the noble and comprehensive language, who is fit for *yajñas* and the use in councils of governance like the maiden of a man. ^{१४} The same verse has also furnished reference regarding the connection of women with *vidatha*. ^{१५} The *Rgveda* has mentioned that grown-up males are described as getting married to maidens who are young, honest, educated and good in *vidatha*. ^{१६} It appears that at the age of the *Rgveda*, females took the active participation in the discussion of the *vidatha*. The *Atharvaveda* also has the instances which justify the participation of the women in the *vidatha*. Regarding the qualities of a perfect bride, it is mentioned that besides being the mistress of the house, the bride may speak amicably to *vidatha*. ^{१७} It is also mentioned that a bride is blessed to get prosperity in her married life and having reached the old age, she may speak in the *vidatha*. ^{१८} This has clearly shown that in the deliberative events, women possessed equal rights along with men to put forward opinions. Regarding the proper age to participate in the *vidatha*, men are also blessed to address the *vidatha* amicably after attaining

११. *Śabdakalpadrūma*, iv, 286

१२. *Monier Williams Sanskrit English Dictionary*, p. 963

१३. *Hindu Polity*, p.20

१४. *mimyakṣayeṣusudhitāghṛtācīhiraṇyanirṇiguparānaṣṭiḥ* /
guhācarantīmanuṣonayośāsabhāvatīvidathyēvasamvāk // *Rgveda*, 1.167.3

१५. *Rgveda*, 1.167.3

१६. *āsthāpayantayuvatīmīyuvānaḥśubhenimīslāmpajrām* / *Rgveda*, 1.167.6

१७. *grhāngacchagrhapatnīyathāsovaśinītvaṁvidathamāvadāsi* / *Atharvaveda*, 14.1.20

१८. *ihapriyamprajāyaitesamṛdhyatāmasmingrhegārhapatyāyajāgrhi* /
enāpatyātānvaṁsamspṛśasvāthajirvirdathamāvadāsi // *Atharvaveda*, 14.1.21

advanced age like the women.^{१९} So, both men and women were needed to acquire the adequate age to deliberate opinions in the *vidatha* which established *vidatha* as a democratic assembly of adult male and female members. An instance of the *Rgveda* reflects *vidatha* as an assembly where the people discussed the virtue of the horses which were specially made ready for the battles.^{२०} This has reflected the various types of discussion that happened in the *vidatha*. *Vidatha* can be considered as a common place where the folk collectively worshiped for the welfare of the common people. There are some verses found where the folk assembled in the *vidatha* and worshiped the gods Indra^{२१}, Agni^{२२}, and Mitravaruna^{२३}. On the basis of the available references, it can be assumed that *Vidatha* was a folk assembly where all kinds of functions, economic, military, religious and social were observed by both men and women.

Conclusion:- People assembled together, discussed and worshiped without any discrimination of gender in these three assemblies viz., *sabhā*, *samiti* and *vidatha*. At present, executive authority is responsible for all its decisions and actions in the parliament representing the opinions of the common people of India, but during the Vedic period, the common people could voice their opinions directly to the king through assemblies like *sabhā*, *samiti* and *vidatha*. Most importantly, both men and women could take part in these institutions, but they needed to acquire the adequate age to deliberate opinions. Undoubtedly these assemblies served as political representative institutions of ancient India where all kinds of functions and deliberate decisions on economic, military, religious and social issues were made.

---O---

१९. ā hi rohemamamṛtaṁ sukhaṁ ratham atha jirvirdatham āvadāsi // *Atharvaveda*, 8.1.6

२०. yadvājīno devajātasya sapte ḥpravakṣyāmo vidathe vīryāṇi / *Rgveda*, 1.162.1

२१. endrayā hy upanaḥ parāvato nāyamacchāvīdathānīvasatpatirastamrāja-ivasatpatiḥ / *Rgveda*, 1.130.1

२२. ghṛtapratīkaurvīyāvyadyodagnirviśvānikāvyānīvidvān / *Rgveda*, 3.1.18

२३. pīpāyadhenuraditīr tājanāyamitrāvaruṇāhavaride/
hinotiyadvāmvidathesaparyantsarātahavyomānuṣonahotā // *Rgveda*, 1.153.3

Oneness of everything in Indian Knowledge System

Sweta Rawat

Research Scholar, School of Media and Communication Studies, Doon University

Introduction- The concept of oneness in Indian Knowledge System explains how everything in the universe is inter-connected and is the same in essence. This reflects in a correspondence, which is a parallel between two levels of existence. In many ways the features of the universe are reflected in individual beings.

The world is made up of the same basic elements out of which the plants, animals, and human beings are made of. At the minutest level, the atomic structure looks like a miniature form of planetary system.

The same fractal pattern is visible in the branching of trees, leaves, rivers, as is in the lungs, nerves, human vascular system which branches out and distributes nutrients and blood to all parts of the body. The universe too is evolving and thus has consciousness. Just like beings take birth and die, universe too has a lifecycle of creation, sustenance, and dissolution.

The same cosmic moral order (Ṛta) governs the moral codes of the universe and individuals (Diya, 2023). Living organisms have rhythms that are similar to the periods of the sun, the moon, and the planets.

The objective of this narrative review is to explore the concept of oneness and inter-connectedness in Indian Knowledge System. Upaniṣad, which are the summary of the Veda, deal with the concepts of universe, creator, creation, and Jīva.

Therefore, a review of Upaniṣad, along with various commentaries on them, has been conducted. Bhagavadgītā, which is considered as the essence of all Upaniṣad, has also been included in this review, along with various commentaries in it. Caraka Saṃhitā—the ancient Indian text dealing with āyurveda—was also included.

Brahma- the Supreme Self- Upaniṣads speak of a supreme being—the Brahman, who is non-dual^१, eternal^२, infinite, all pervading, omniscient^३, resplendent, and resides in the heart^४, i.e., it is the inner most self of all creatures. This supreme being is known by many names, but is still one^५. The same reality manifests with many attributes. Viṣṇusahasranāma, Lalitāsahasranāma, and Śivasahasranāma invokes the one supreme being with thousand names. Puruṣa Sukta of Ṛgveda says that we are all part of one cosmic being. Śrī Rudram^६ says mountains, rivers, trees, and vegetation are all manifestations of Rudra. This Supreme being is known by various names—God, Īśvar, Brahman, Para-brahman, Puruṣottama, Self, Rudra, Śiva, Viṣṇu, Divine mother, Ādi Paraśakti, Śabda-brahma, Om, Observer, and Cosmic consciousness. According to Vedāntins, brahman is both the Upādānakāraṇa (material cause) as well as the Nimittakāraṇa (efficient cause) of the universe (Apte, 2020).

Vedic cosmology - Brahmāṇḍa- This world is referred to by various names—Jagat, Saṃsāra, Sṛṣṭi, Brahmāṇḍa, and Universe. However, the same word may have a slightly different contextual meaning. Various texts refer to different levels of creation—sometimes the earthy plane, or the solar system, and sometimes the entire cosmos. Brahmāṇḍa is also understood as consisting of multiple worlds.

Bhārātīya Shad-darshan have different perspectives to look at the origin and nature this world. Nyāya and Vaiśeṣika darshan believe that everything is made of the same particle—Paramāṇu. Mīmāṃsā darshan views the world as eternal and infinite. According to it, Jagat is neither created nor destroyed. It too accepts that the world is made of Paramāṇu. Sāṃkhya views the creation of this Sṛṣṭi as a result of disequilibrium

-
१. Chāndogya Upaniṣad 6.2.1: सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः स जायत ॥ Translation: In the beginning, my dear, this universe was Being (Sat) alone, one only without a second. Some say that in the beginning this was non-being (asat) alone, one only without a second; and from that non-being, being was born.
 २. Yoga Vasistha: यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ Translation: Hail The Eternal. Om, salutation to the self-same Reality, from whom all beings proceed, by whom they are manifest, upon whom they depend, and in whom they become extinct.
 ३. Śvetāśvatara Upaniṣad 3.14: सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशङ्गुलम् ॥ Translation: Puruṣa, who has a thousand heads, a thousand eyes, a thousand feet, investing the earth in all directions, exceeds (it by a space) measuring ten fingers.
 ४. Narayan Sukta
 ५. Puruṣa Sukta, Ṛgveda 10.90.1-16
 ६. Taittirīya Saṃhitā
-

between threeguṇa of Prakṛti- Sattva, Rajas, and Tamas (Upadhyaya, 2011). The Vedāntic theory of Pañcikaraṇam explains the origination of this multifarious world from the one Brahman (Hiranmayananda, 1971). It states that the entire universe is made up of 5 basic elements which divide and then recombine to form the matter.

In Verse 8.18 of Bhagavadgītā, Kṛṣṇa says that the universe manifests when Brahmā awakes and dissolves when he sleeps.

Veda describe seven distinct Loka (worlds) in this brahmāṇḍa- Bhuloka, Bhuvarloka, Swarloka, Maharloka, Janarloka, Tapoloka, and Satyaloka (Aurobindo, 1946). Mount Meru is the axis of this brahmāṇḍa.

Verse 15.1 of Bhagavadgītā describes this Saṃsāra as an allegorical inverted tree. This tree which has its roots above and branches below is referred to as Aśvattha (Peepal or Sacred Fig; Scientific name - Ficus religiosa).

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुर्व्ययम्।

छन्दांसियस्य पर्णानियस्तं वेदसवेदवित्॥ (15.1)

They (the wise) speak of an eternal ashwattha tree, with roots above and boughs beneath, whose leaves are Vedic hymns. He who understands this tree of life is a Veda-knower. (Yogananda, 1995)

Brahmāṇḍain Piṇḍa—the individual- An individual is called—Piṇḍa, Puruṣa, Jīva, Jīvātma, Human being. The dictionary meaning of the word piṇḍa is a round mass, ball, globe, a lump, the body, etc (Apte, 2020).

Upaniṣad indicate that there is more to this generally perceived gross human body. There are finer bodies that we dwell into simultaneously. Pancakośa are the five sheaths of body—Annamayakośa, Prāṇamayakośa, Manomayakośa, Vijñānamayakośa, and Ānandamayakośa. Some scholars add sixth and seventh bodies—Citamayakośa and Satmayakośa beyond the Pancakośa (Aurobindo, 1946).

Cyclical nature of brahmāṇḍa and individuals- Universe is a constantly evolving, living, and conscious entity like humans. Universe too goes through a birth and a dissolution. Loka-Puruṣa Sāmya Siddhānta in Caraka Saṃhitā shows the similarity between the external universe and human body.

Caraka Saṃhitā says that human beings (Puruṣa) and the universe (Loka) pass through six incidents in their life-cycle. Both of them have a Hetu (cause from which flows birth), they undergo Utpatti (birth), Vṛddhi (growth or development), Upaplava (the advent of pain or decay), and finally go towards Viyoga (disappearance of the body, dissolution of the universe) (Kaviratna, 1890).

7 loka within human body- The 7 loka of Vedic cosmology correspond with seven distinct states of consciousness (Annam, Prāṇa, Mānas, Vijñānam, Ānanda, Cit and Sat), and seven sheaths of body (Pancakośa)(Aurobindo, 1946). The Annamayakośa is the gross physical body made of food, Prāṇamayakośa is the subtle astral body made of Prana or energy, Manomayakośa is the mental body made of thoughts, Vijñānamayakośa is the wisdom body, and Ānandamayakośa is the bliss body.

Mount Meru within the human body- Yogic Text Shiv Samhita (2.1-5) mentions that all things described in the Vedic cosmology—mountains, rivers, and elements, also exist in the body. All the Tattva and Loka (worlds) and beings existing on them are within the body, surrounding the mount Meru(Vasu, 1914).

Though most of the yogic experience takes place in a subtle spiritual plane, many of them have a corresponding anatomical basis. The human nervous system consists of two parts—the central nervous system (CNS), through which we perform our voluntary acts; and the autonomic nervous system (ANS) which is independent of our will. CNS includes the brain and the spinal cord. The CNS sends or receives nerve impulses to or from the periphery of the body (Peripheral Nervous System) with the help of 43 pairs of nerves arising from the brain and the spinal cord (Spinal or vertebral column)(Sarkar, 1987).

Spinal column is known as Meru Daṇḍa. This is the axis of the body just as Mount Meru is the axis of the earth. The top of the spinal cord is the supreme abode of Viṣṇu. Śaiva call it abode of Śiva, Vaiṣṇava abode of Viṣṇu, some call it the abode of Hari-Har, Śākta call it abode of Śakti, and some sages call it the abode of Śiva and Śakti (Shyamacharan Lahiri, 1954).

The spine is formed of a series of 33 bones called vertebrae, which are divided into five regions: Cervical, Dorsal, Lumbar, Sacral, and Coccygeal. These five regions of the spine of the gross body correspond with the regions of the five Cakra of the subtle astral body (Prāṇamayakośa). The five Cakra are Mūlādhāra, Svādhiṣṭhāna, Maṇipūra, Anāhata and Viśuddha. (Sivananda, 1971). Just like there are physical plexuses in the gross human body, similarly there are centers of subtle prāṇa which moves in the nervous system of the astral body. Gross prāṇa moves in the nervous system of the gross physical

७. Taittiriya Upaniṣad – Chapter 2 -Brahmanand Valli

८. Hepatic, Cervical, Brachial, Coccygeal, Lumbar, Sacral, Cardiac, Epigastric, Esophageal, Pharyngeal, Pulmonary, Lingual, Prostatic, etc.

body. The two courses are intimately connected. They act and react upon each other. Out of the three major nāḍīs - Piṅgalā on the right side of the spine, Idā is on the left side, and Suṣumnā nāḍī passes through the hollow cylindrical cavity of the spine, and are referred to as Ganga, Yamuna, and Saraswati respectively. They meet at Triveni at the Mūlādhāra cakra and also at the Anāhata cakra and Ājñā cakra (6th cakrain the forehead between the eyebrows)(Sivananda, 1971).

Aśvattha tree within human body- The earlier mentioned inverted Aśvatthatree is reflected in the Central and Peripheral Nervous System of human body which has its center in the brain and the spinal cord (root) and is spreading in this world of sense perception through sensory and motor faculties (branches), thus experiencing this world and further spreading itself. As trees spring out of the soil beneath them, the human tree of thought, life force, and nerves grows invertedly downward from the “soil” or ground of Cosmic Consciousness (Yogananda, 1995).

Honey theory of Bṛhadāraṇyaka Upaniṣhad- Bṛhadāraṇyaka Upaniṣhad (2.5.1-14) describes how everything in this world is linked to each other in a blissful oneness. The existence and work of one entity or species is helpful for the another (Madhavananda, 1945). Everything is organically and vitally connected, and not just artificially. When you touch anything, you are touching everything, and when I know one thing, I know everything. This way earth is the honey for all beings and all beings are honey for the earth (Krishnananda, 1983).

Peace and bliss through the understanding of oneness - In Puruṣa Vichayam of Caraka Saṃhitā it is mentioned that once a person has developed the understanding of his oneness with the universe, a realization sets in that he is his own cause of pleasure and pain. Consequently, the person may dissociate from attachment to pleasures and aversion to pain. This knowledge leads to ‘Apavargah’ or Emancipation (Kaviratna, 1890). Upaniṣad or the Vedānta darshan view the Jīva, Jagat and Īśvar as one, it only appears plural due to ignorance or Māyā. The names of Vishnu used in the Vishnu Sahasranama- Viśvaṃ (The all or the universe), Viṣṇuḥ (God who pervades everything), and Vaṣaṭkāraḥ (beings for whom the sacrificial verses are uttered in the yajnas)- indicate that the universe, God, and the beings are all same (Krishnananda). Once this knowledge is acquired, a supreme peaceful, calm state dawns upon an individual and no sorrow is able to touch that individual.

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (Bhagavadgītā 4.39)

The man who has faith, is diligent and has control over the organs, attains Knowledge. Achieving Knowledge, one soon attains supreme Peace.(Gambhirananda, 1984)

यंलब्ध्वाचापरंलाभंमन्यतेनाधिकंततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ (Bhagavadgītā 6.22)

Obtaining which one does not think of any other acquisition to be superior to that, and being established in which one is not perturbed even by great sorrow.

Īśāvāsya Upaniṣhad says once we have realized that everything is permeated by God, then there is no more moha, no more delusion, no more attachment, no more grief, that means we are constantly in bliss (Reddy, 2021).

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ (Īśāvāsya Upaniṣhad 7)

When to the man of realization all beings become the very Self, then what delusion and what sorrow can there be for that seer of oneness?(Gambhirananda, 1980).

Conclusion- Indian Knowledge System carry deep esoteric teachings for the benefit of all. Evaluation of the concept of oneness helps in understanding everything is connected. What is true about the external universe is also manifested at a smaller scale in individual beings. Everything in the universe is tied together. This realization helps us change our perspective towards our own attachments (rāga) and repulsions (dveṣa) and also how we look at others—not as separate from us, but one in essence.

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (Īśopaniṣad 6)

He who sees all beings in himself, and himself in all beings, feels no hatred by virtue of that realization (Gambhirananda, 1980). Once established in this realization, we can rise above the clutches of individual pleasure and pain and do what is right for everyone. Thus, by taking up the Śreyomārga (preferable path), rather than the Preyomārga (pleasurable path) mentioned in Kathopniṣhad, we attain peace and prosperity, not just for ourselves but for the entire world (Gambhirananda, 1980). This is the core of the Indian Knowledge system.

---O---

The Concept of *Puruṣa* as reflected in the *Śrīmadbhagavadgītā*: A philosophical Introspection.

Himadri Sarmah

Research Scholar, Department of Sanskrit, Gauhati University

The *Śrīmadbhagavadgītā* is a major Indian text that presents philosophies like Sāṃkhya, Yoga, and Vedānta. It begins with Arjuna's confusion on the battlefield of *Kurukṣetra*, where he is unable to decide. As his friend and guide, Lord Kṛṣṇa gives him deep knowledge about life and its impermanence, explaining the certainty of the destruction of all cosmic bodies. Though part of the *Mahābhārata*, this dialogue between Kṛṣṇa and Arjuna stands as a complete philosophical treasure on its own.

In the *Śrīmadbhagavadgītā*, the dialogue between ŚrīKṛṣṇa and Arjuna reveals many core philosophies, with Sāṃkhya holding special importance. Key ideas like *Puruṣa*, *Prakṛti*, *guṇa*, cosmic creation and dissolution, and self-liberation are discussed. Yet, since the *Śrīmadbhagavadgītā* is not a pure Sāṃkhya text, its views differ from traditional Sāṃkhya in some ways. To grasp these philosophical nuances, commentaries by scholars such as Śāṅkarācārya, Madhvācārya, Śrīdharaśvāmī, Rāmānuja, and later thinkers like Sri Aurobindo and B.G. Tilak provide valuable insights.

Puruṣa: from a Sāṃkhyaperspective:- In Sāṃkhya philosophy, evolution rests on two main elements: *Prakṛti* and *Puruṣa*. They are independent, with *Prakṛti* driven by the conscious *Puruṣa*. Evolution begins when *Prakṛti*'s balance of the three *guṇas*; *sattva*, *rajas*, and *tamas*, is disturbed. Texts often use *puruṣa*, *pumān*, and *jñā* to denote the Self. Sāṃkhya argues that only through the conscious Self can one realise existence. *Puruṣa* itself is neither the cause nor the effect of change.^१ In the *Sāṃkhya-kārikā*, the self is categorised as *jñā*, which is specifically different from the other categories, i.e., *vyakta* (manifested) and *avyakta* (unmanifested). Here, *vyaktas* are the evolutes of *avyakta*, i.e., *Prakṛti*. This *kārikā* is clearly elaborated by Gauḍapāda, who states that the self is the knower, *jñāḥpuruṣaḥ*^२. The *puruṣa* is devoid of the three qualities or *guṇas*, i.e., *sattva*, *rajas* and

१. Gauḍapāda'sbhāṣya on *Sāṃkhya-kārikā*, 3

२. Gauḍapāda'sbhāṣya on *Sāṃkhya-kārikā*, 2

tamas^३. This *puruṣa* cannot be identified as either the body, the mind or something else^४. The one who is free from all forms and definitions. In the *Sāṃkhyapravacanabhāṣya*, it is observed that the self or *puruṣa* is inactive (*akartā*), because it is free from all the desires which made him disinterest (*audāsīnyaṃ*) and indifferent to everything^५. The *puruṣa* is unable to produce anything, hence it plays the role of a passive spectator and this non-productive nature is termed as *aprasavadharmīn* *Sāṃkhya* theory. Gauḍapāda clearly said the self as a non-productive element in his commentary on *Sāṃkhya-kārikā* that; *prasavadharmivvyaktaṃpradhānaṃ ca, aprasavadharmīpuruṣaḥ*, because nothing is produced by the self or *Puruṣa*^६. Being the ultimate realities, both *avyakta* and *puruṣa* does not have any root cause from which they sprout. They are in the highest position without any form (*nirāvayava*), they never have to depend on anything for cessation (*nirāśrita*) and because of this independent, self-sufficient, self-shining nature, *puruṣa* is termed as *svatantra* in *Sāṃkhya*. As the self or *puruṣa* is eternal, all-pervading and does not have any root cause (*hetu*) to surrender itself during the time of destruction (*pralaya kāla*), it is considered as *aliṅga*^७, which is similar to the nature of *avyakta*. The *puruṣa* is also identified as *vivekī* or discriminative. Because it is distinguished from all three *guṇas*^८. Also, this self is considered as *aviśayaḥ*, which indicates that it cannot be categorised as a mere object^९ of enjoyment. This characteristic leads to another attribute of *puruṣa*, i.e., *asāmānya* or not common to all^{१०}. The Self is the knower, the spectator and also the experiencer with a pure essence of wisdom^{११}. Aniruddha rightly said the self as experiencer (*bhoktā*) by stating *bhogyāprakṛtiḥ, bhoktāpuruṣaḥ*^{१२} in his commentary on the *Sāṃkhyasūtra*.

Puruṣa: from the lens of the *Śrīmadbhagavadgītā*: The *Śrīmadbhagavadgītā* accepts *Puruṣa* as the knower, where the body is the field (*kṣetra*) and the Self is the knower

३. Gauḍapāda'sbhāṣya on *Sāṃkhya-kārikā*, 11.

४. *Sāṃkhyasūtra*, I.139

५. Vijñānabhikṣu's commentary on *Sāṃkhyasūtra*, I.163.

६. Gauḍapāda'sbhāṣya on *Sāṃkhya-kārikā*, 11

७. Gauḍapāda'sbhāṣya on *Sāṃkhya-kārikā*, 10

८. Gauḍapāda'sbhāṣya on *Sāṃkhya-kārikā*, 11

९. Gauḍapāda'sbhāṣya on Ibid.

१०. Ibid.

११. Vijñānabhikṣu's commentary on *Sāṃkhyasūtra*, I.139

१२. Aniruddha's commentary on *Sāṃkhyasūtra*, I.143

(*kṣetrajñā*). References to *Puruṣa* appears in its chapters, reflecting its nature. The terms used for *Puruṣa* can be traced as follows:

The terms used to denote <i>puruṣa</i>	Chapter name	Verse number
<i>Puruṣa</i>	Ch.13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	19
	Ch. 15 (<i>purūṣottamayoga</i>)	16
<i>Ātmā</i>	Ch. 3 (<i>karmayoga</i>)	27
	Ch.13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	32
<i>Paramātmā</i>	Ch. 13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	31
<i>Dehī/ Dehin</i>	Ch. 2 (<i>sāmkhyayoga</i>)	13
<i>Akṣara</i>	Ch. 8 (<i>tārakabrahmayoga</i>)	3
	Ch. 15 (<i>purūṣottamayoga</i>)	16
<i>Guṇabhoktṛ</i>	Ch. 13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	14
<i>Bhoktā</i>	Ch. 13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	20

Table 1: The terminologies that represent the word Self or *Puruṣa* in the SBG.

These terms show how the Self is described, but across different commentaries, many sharper expressions also define its nature and qualities. Together, they reveal the deeper meaning of *Puruṣa*, which this study will explore further.

The nature of *Puruṣa*as reflected in the *Śrīmadbhagavadgītā*:

In the *Śrīmadbhagavadgītā*, both *Puruṣa* and *Prakṛti* are seen as dependent on the Supreme, *ŚrīKṛṣṇa*. Thus, the *Puruṣa* of *Sāmkhya* does not always match the *Śrīmadbhagavadgītā*'s view. Yet, in some aspects, their nature overlaps, and these similarities will be outlined for analysis:

The nature and characteristics of the <i>Puruṣa</i>	Chapter name	Verse no.
<i>Anādi</i>	Ch. 13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	19, 31
<i>Akartā</i>	Ch. 3 (<i>karmayoga</i>)	27
	Ch. 13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	29
<i>Nirguṇa</i>	Ch. 13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	14, 31
<i>Avyaya</i>	Ch. 2 (<i>sāmkhyayoga</i>)	21
	Ch. 13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	31
<i>Avināśī</i>	Ch. 2 (<i>sāmkhyayoga</i>)	21
<i>Nityam</i>	Ch. 2 (<i>sāmkhyayoga</i>)	20, 21
<i>Aja</i>	Ch. 2 (<i>sāmkhyayoga</i>)	20, 21
<i>Śāśvata</i>	Ch. 2 (<i>sāmkhyayoga</i>)	20
<i>Purāṇa</i>	Ch. 2 (<i>sāmkhyayoga</i>)	20

<i>Bhoktā/ Goṇabhoktṛ</i>	Ch. 13 (<i>kṣetrakṣetrajñānavibhāgayoga</i>)	14, 20
<i>Sanātana</i>	Ch. 15 (<i>puruṣottamayoga</i>)	7
<i>Āścaryavat</i>	Ch. 2 (<i>sāmkhyayoga</i>)	29

Table 2: The nature of the Puruṣa reflected in the SBG.

In Chapter 13 of the *Śrīmadbhagavadgītā*, Puruṣa is described as beginningless (*ahetumat*), along with Prakṛti, both called *anādī*.^{१३} Etymologically, *anādī* means “without a beginning, “ the opposite of *ādī*, which refers to birth or origin. Thus, the Self is seen as independent and causeless. The verse states that all modifications and qualities come only from Prakṛti. Śaṅkarācārya explains that what has no beginning is *anādī*, and both Prakṛti and Puruṣa share this nature of *śvara*.^{१४} Rāmānuja noted the contrast between Puruṣa and Prakṛti. He viewed Prakṛti as the source not only of all modifications, including bondage and liberation, but also of the three *guṇas*.^{१५} This indirectly dismisses the productivity of the self and considers the self without any attribute or *guṇa*.

In Chapter 3 of the *Śrīmadbhagavadgītā*, Puruṣa is described as *akartā*, the non-doer. While *kartā* means one who engages in action (*kriyā*), *akartā* clearly signifies the opposite, detached from all activities.^{१६} Here, the Self is called *ātmā*. Deluded by ego, this *ātmā* thinks, it is the agent of deeds, though they are actually carried out by Prakṛti’s qualities. Śaṅkarācārya explains that due to ignorance, the ego-bound self mistakes bodily traits as its own and wrongly sees itself as the doer, while basically the actions belong to Prakṛti.^{१७} Rāmānuja considers that due to the *ahamkāra* or egoism an ignorant self forgets its real nature and misinterprets itself as, ‘I am the doer’^{१८}. In Chapter 13 of the *Śrīmadbhagavadgītā*, the Self is re-evaluated. It affirms that those who recognise *mūlaprakṛti* as the root of all existence also accept Puruṣa as the non-doer (*akartā*)^{१९}. Śaṅkarācārya comments that only the noble can realize the Self, or *kṣetrajña*, as formless and non-doer (*akartā*). He compares it to space (*ākāśa*), without attributes or

१३. *Śrīmadbhagavadgītā*, 13.19

१४. Śaṅkarācārya’s commentary on Ibid.

१५. Rāmānuja’s commentary on Ibid.

१६. *Śrīmadbhagavadgītā*, 3.27

१७. Śaṅkarācārya’s commentary on Ibid.

१८. Rāmānuja’s commentary on Ibid.

१९. *Śrīmadbhagavadgītā*, 13.29

distinctions, so it cannot be defined as cause or effect.^{२०} Those who observe the *ātmanas kṣetrājñā*, as *akartā*, as *sarvopādhivivarjitaṁ* is termed as *paramārthadarśī* by Śaṅkarācārya.^{२१} Śrīdharasvāmī notes that the true observer of the Self (*ātman*) sees it as a non-doer (*akartā*), unlike those who think otherwise.^{२२} Rāmānuja adds that happiness and misery arise from the ignorant Self's union with Prakṛti. He clarifies that only those who recognize these states as products of ignorance about *karma* can realize the pure, inactive Self.^{२३}

In this *Kṣetrakṣetrājñā vibhāgayoga*, the reasons are well analysed because of which the self does not involve itself in any kind of activities.^{२४} Which indicated the supreme self or *Paramātmā* as inactive or *niṣkriya* even within the material body. The self is *anādī*, a nature Śaṅkarācārya elaborated to clarify the inactivity of Puruṣa. He interconnected *anādī*, *nirguṇa*, and *avyaya*, concluding that the self or Puruṣa neither acts nor is tainted, and finally recognised this self as *Paramātmā*.^{२५} Śrīdharācārya explains that the supreme self is immutable because it has no beginning and is free from the *triṣṭa* i.e., *sattva*, *rajas*, and *tamas*. Without a beginning, it cannot decay, so the causeless Puruṣa is *avyaya*. It does not change and never acts as a cause for transformation, making it *avikār*.^{२६} Rāmānuja agreed with Śaṅkarācārya and Śrīdharācārya, stating that the Supreme Self is different from the body, yet exists within it.^{२७}

In the *Śrīmadbhagavadgītā*, the self is likened to the all-pervading ether or *ākāśa*, which is later discussed by the commentators in their respective works.^{२८} Like ether (*ākāśa*), which is all-pervading yet untainted due to its subtle nature, the self or Puruṣa also remains pure while abiding in the body. In his commentary on the *Śrīmadbhagavadgītā*, Śaṅkarācārya used the term *vyāpī* to show the self's omnipresence, comparing it to ether because of their shared subtlety (*saukṣmyāt*).^{२९} Śaṅkarācārya referred

२०. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

२१. Ibid.

२२. Śrīdharācārya's commentary on Ibid.

२३. Rāmānuja's commentary on Ibid.

२४. *Śrīmadbhagavadgītā*, 13.31

२५. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

२६. Śrīdharācārya's commentary on Ibid.

२७. Rāmānuja's commentary on Ibid.

२८. *Śrīmadbhagavadgītā*, 13.32

२९. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

the self as *ātma*. Rāmānuja also accepted that this self is ‘present in all bodies’, namely in deities, men etc., to establish its (the self’s) non-contaminated and all-pervading (*vyāpi*) nature^{३०}. He also indicated the reason behind the existence of the *Puruṣa* everywhere, without being affected by any of those, is only its extreme subtleness. Śrīdharācārya extended his commentary by likening the self to ether, as did Śaṅkarācārya and Rāmānuja. He explained that although ether pervades even dirty mud, it remains unaffected. Likewise, the self which is universally prevails in all kinds of bodies or *śarīra* (*uttama*, *madhyama* and *adhama*) is not tainted by the positive and negative qualities of its respective body^{३१}. Thus, the unmanifested self, though present in the manifested cosmic body, is always beyond the limitations because of its eternal and all-pervading nature.

The *Śrīmadbhagavadgītā*, especially in Sāṅkhyayoga (Chapter II), teaches that the self or *ātma* is eternal. It remains the same in all three *kālas*, i.e., past, present, and future, and continues unchanged even after the body decomposes.^{३२}

In the *Kurukṣetra* battle, Arjuna hesitated to fight his kin and sought guidance from Kṛṣṇa. Kṛṣṇa explained that the self is eternal and pure, unaffected by birth or death, while the body alone undergoes decay. He told Arjuna that neither he, nor Kṛṣṇa, nor the warriors ever truly cease to exist. Śaṅkarācārya, commenting on this verse, affirmed that all individuals are eternal, even though their bodies perish, since the timeless self (*ātma*) within them is amaranthine.^{३३} Madhvācārya stated that confusing the self with the body is irrelevant, since Vedānta affirms the Lord is immortal and eternal, and therefore all beings are also eternal.^{३४} There is no need to fear the body’s destruction, since it is inevitable. The conscious self, however, is immortal and eternal. The *Śrīmadbhagavadgītā* explains that the self is not subject to delusion, unlike the body, which changes through childhood, youth, old age, and death.^{३५} The self, though present in the transient body, shares the same eternal nature as the supreme self. Rāmānuja taught that the embodied self is not a source of grief, since it never changes despite residing in

३०. Rāmānuja’s commentary on Ibid.

३१. Śrīdharācārya’s commentary on Ibid.

३२. *Śrīmadbhagavadgītā*, 2.12

३३. Śaṅkarācārya’s commentary on Ibid.

३४. Madhvācārya’s commentary on Ibid.

३५. *Śrīmadbhagavadgītā*, 2.13

bodies that arise and dissolve over time. Being eternal, the self is never lost at death, but simply takes on another body.^{३६} Śaṅkarācārya used the term *dehī* for the embodied self. The one to whom the *deha* belongs is *dehī*; thus, the self or puruṣa, regarded as *ātmā*, can also be called *dehī*. It does not undergo displacement or replacement during the body's transitions from childhood, youth, and old age to death.^{३७} Śrīdharaśvāmī, like Śaṅkarācārya and Rāmānuja, viewed the transient body or *deha* as a perishable gross element that evolves into another through the subtle self, which never fades. Thus, the noble person (*dhīraḥ*) is not deluded by the death of the *deha*, knowing the *dehin* remains untouched.

The *Śrīmadbhagavadgītā* strongly considers them as ignorant, who deem the self as a slayer and also as a slain^{३८}. According to Rāmānuja, the feeling of sorrow that sprouts from the realisation that I slay the self is nothing but a result of ignorance solely about the nature of the self^{३९}. Because of its eternal nature, the self is beyond birth, death, cessation, or transmission. It is *nitya* (everlasting), *śāśvataḥ* (non-decaying), and *purātanaḥ* (pramaeval), never born, never dying, and never ceasing in any form.^{४०}

In Sāṅkhyayoga of the *Śrīmadbhagavadgītā*, the self is described as formless and non-perceivable, termed *acintya* (unthinkable) and *avyakta* (unmanifest). Therefore, one should not grieve over this indescribable self.^{४१} Śaṅkarācārya explained that the self cannot be manifested by the *karaṇas* (means of knowledge). Since it has no form, it is described as *avyakta*.^{४२} Rāmānuja, similar to Śaṅkarācārya, explained that the self cannot be manifested by the same *karaṇas* (means of knowledge) that produce cosmic objects subject to division and change. Thus, the self remains unmanifest (*avyakta*) and distinct from perishable material forms.^{४३} Rāmānuja considered the subtle, unmanifest *ātma* as non-perceivable (*acintya*), distinct from the *jāti* of cosmic objects, and termed it *vijātīyaḥ*. Śaṅkarācārya elaborated *acintya* by contrasting it with objects that can be derived,

३६. Rāmānuja's commentary on Ibid.

३७. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

३८. *Śrīmadbhagavadgītā*, 2.21

३९. Rāmānuja's commentary on Ibid.

४०. *Śrīmadbhagavadgītā*, 2.20

४१. Ibid., 2.25

४२. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

४३. Rāmānuja's commentary on Ibid.

highlighting the self's non-thinkable nature.^{४४} According to Śaṅkarācārya, objects perceived outwardly by the sense organs or inwardly by the mind and intellect are thinkable, whereas the *ātma* stands opposed to such thinkable entities, being beyond their range. To affirm its eternality, Śrīdharasvāmī emphasised that the self is immaterial and unmanifest, not perceivable by the mind or senses—eyes, skin, hands, feet, or any organ—due to the absence of manifestation.^{४५} Thus, the self is formless (*avyakta*), beyond both external and internal experience (*acintya*). Because of this *avyakta* nature, the *Śrīmadbhagavadgītā* describes the self as a wonder (*āścarya*).^{४६}

In Sāṅkhyayoga, the self is portrayed as a profound mystery, often seen, heard, or spoken of as a wonder, yet never truly known. Its subtle, formless nature lies beyond the senses. Śaṅkarācārya explained that those who perceive the *ātma* cannot relate its attributes to ordinary objects, since their essential qualities are absent in the self. Thus, he compared it to a wondrous entity never connected with the sense organs, making its experience rare, difficult to understand, and harder still to describe. He also noted the challenges faced by listeners who struggle to grasp abstract ideas about this subtle, formless reality.^{४७} As this atypical self cannot be perceived and understood by any means of knowledge, Śaṅkarācārya entitled it as *durbodha* or incomprehensible^{४८}. Going through the same direction with Śaṅkarācārya, commentator Śrīdharasvāmī said that, even by hearing or seeing the self, no one can ever completely comprehend the exact nature of the same, because it is already corrupted and occupied by the maxim of beginningless i.e., *asambhavadōśāt*^{४९}. Because of its *alaukika* (non-cosmic, beyond worldly) existence, the self can only be experienced like magical sparks from a skilled magician. Rāmānuja explained that misunderstanding arises when people attempt to grasp this unlimited *ātma* through limited senses, creating misconceptions, since its exact existence is unknowable.^{५०} Rāmānuja also interpreted the conjunction *ca* in the verse, explaining that

४४. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

४५. Śrīdharācārya's commentary on Ibid.

४६. *Śrīmadbhagavadgītā*, 2.29

४७. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

४८. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

४९. Śrīdharācārya's commentary on Ibid.

५०. Rāmānuja's commentary on Ibid.

it implies even among seers, speakers, and listeners, the authenticity of their perception, speech, and hearing of the self is rare and doubtful.^{५१}

In the *Śrīmadbhagavadgītā*, the self is analysed as *akṣara* (imperishable Supreme Self) and *kṣara* (perishable individual self). In the eighth chapter, *Akṣara-Brahma-Yoga*, Arjuna asks Lord ŚrīKṛṣṇa about the meanings of *Brahman*, *adhyātma*, *adhibhūta*, and *adhidaivata*.^{५२} In its answer to Arjuna, Lord ŚrīKṛṣṇa stated the transcendent, immutable and Supreme self as Brahman, and the embodied becoming of that Supreme self is considered here as the *adhyātma* or individual self.^{५३}

Śaṅkarācārya, citing the *Bṛhadāraṇyakopaniṣad*, identified the Supreme Self as Paramātmā, the reality without changes and disease, represents the *akṣaraṁ brahma*, imperishable in nature. He further explained that the embodied self, a manifestation of the Supreme Self dwelling in each body, is termed *adhyātma* in the *Śrīmadbhagavadgītā*.^{५४} Rāmānuja also admits to the elaboration given by Śaṅkarācārya and defined the *Akṣara* as an entity, which cannot be destroyed, which forms the totality of all individual selves^{५५}. Apart from these, the individual self is considered as *adhidaivata* or imperishable self living in the embodied man i.e., imperishable or *adhibhūta*.^{५६} Śaṅkarācārya explained the term *Puruṣa* as the self, since it has completed (*pūrṇa*) the entire cosmic world or because it resides in the abode (*pura*) of the body (*śarīra*).^{५७} In another verse, it also gets into notice that, according to the *Śrīmadbhagavadgītā*, the supreme reality or the *parama-puruṣa* is the subtlest entity from which the whole creation process has evolved^{५८}.

The *Śrīmadbhagavadgītā* affirms the Supreme Self as formless, beyond colour, fame, growth, and change. This *ātma* is the observer and enjoyer, a conscious subtle reality dwelling in each body, emphasized in the thirteenth chapter (*Kṣetra-Kṣetrajña-Vibhāga-Yoga*). The *Brahman*, free from the three *guṇas* i.e., *sattva*,

५१. Rāmānuja's commentary on Ibid.

५२. *Śrīmadbhagavadgītā*, 8.1

५३. Ibid., 8.3

५४. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

५५. Rāmānuja's commentary on Ibid.

५६. *Śrīmadbhagavadgītā*, 8.4

५७. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

५८. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid., 8.22

rajas, and *tamas*, supports all evolved beings while remaining unattached to the senses, yet acts as their enjoyer and sustainer.^{५९} The self is described as both *nirguṇa* (without attributes) and *guṇabhoktr* (enjoyer and supporter of the three *guṇas*). Śaṅkarācārya clarified its existence across three stages of evolution: as *bhartṛ* (supporter) during the lifespan of the evolutes, as *prabhaviṣṇu* (generator) at the time of creation, and as *grasiṣṇu* (destroyer) at the end of dissolution.^{६०} This affirms the eternal reality of the self, guiding the cosmos through its various pursuits. The self is also the *bhoktā* (enjoyer), grasping experiences of pleasure and pain caused by body and senses, though it remains unattached to them. In the *Śrīmadbhagavadgītā*, the self is explicitly mentioned as the *bhoktā*.^{६१}

In the commentary regarding this context, Śaṅkarācārya stated that the self or *Puruṣa* is synonymously considered as a knower or *jñēya*, as an embodied self or *jīva* and also as the experiencer or enjoyer or *bhoktā*.^{६२} Because the self experiences pleasure and pain as its own nature, it enjoys or suffers the consequences of these states. Rāmānuja expanded this view, stating that the self, when associated with the material body, becomes the cause of all sufferings and enjoyments.^{६३} He regarded the self as the seat for those experiences.

The three *guṇas*—*sattva*, *rajas*, and *tamas*—form the basis of creation. Before cosmic evolution, they remain in equilibrium, but when disturbed by the self (*Puruṣa*), this balance breaks, each striving to dominate, and evolution begins. Every individual, as an evolute of *Prakṛti*, inherently carries all three *guṇas*, though one predominates, shaping diverse natures. Those guided by the predominance of *sattva guṇa* move toward liberation and are called *sāttvika*.^{६४} Thus, individuals dominated by *rajas* are called *rājasika*, while those influenced by *tamas*—marked by laziness and delusion—are *tāmasika*. The distribution of the three *guṇas* forms the basis of plural selves, with differences arising from the leading attribute. This idea was also highlighted by B. G. Tilak in his *Gītā-Rahasya*, where he cited a verse from the fourteenth chapter

५९. *Śrīmadbhagavadgītā*, 13.14

६०. Ibid.

६१. *Śrīmadbhagavadgītā*, 13.20

६२. Śaṅkarācārya's commentary on Ibid.

६३. Rāmānuja's commentary on Ibid.

६४. cf., Tilak. B. G., *GītāRahasya*, p.164

(*Guṇatraya-Vibhāga-Yoga*) of the *Śrīmadbhagavadgītā*.^{६५} People with *sattva* rise higher, those with *rajas* stay in the middle, and those with *tamas* decline. This shows that the selves differ because of the *guṇas* they carry. If the self were only one, these differences in rise and fall would make no sense.

Unlike Sāṅkhya, the *Śrīmadbhagavadgītā* accepts Īśvara as the root cause of the cosmos. Lord ŚrīKṛṣṇa tells Arjuna that he is the Supreme Self dwelling in the hearts of all beings, and that he is the beginning, middle, and end of everything in creation.^{६६} This verse indicates that though the Supreme Lord considers himself as both the beginning and end of the individuals, but he also considers the term *sarvabhūta*, considering the existence of multiple bodies where he resides in each body *jīvātmā*.

The cosmic selves are nothing but as a whole they are the evolutes of the *paramātmā* or the supreme self. In the *Puruṣottama-Yoga* of the *Śrīmadbhagavadgītā* Lord Kṛṣṇa firmly uttered that, “An everlasting part of myself, having become the bound self in the world of life, attracts the senses, of which the mind is the sixth, and which abide in *Prakṛti*”^{६७}. In this regard Śaṅkarācārya stated that a partial form of the greater eternal self is here in this cosmic world of individuals (i.e., *jīvaloka*) as the *jīva* in each of the common selves to indulge themselves in the worldly activities or enjoyments^{६८}. This example is alike the reflection of the sun that reflects widely in various water bodies and seems like multiple suns. In reality, the abstract and formless self cannot be divided into pieces^{६९}. *Because the Supreme Self* (Īśvara) dwells reflectively in all beings, each *jīva* relates its existence to it. Rāmānuja explained that although the eternal Īśvara constitutes the bound individual self, ignorance, sense-experience, and intrinsic tendencies make the selves forget their link to the Supreme. Thus, bondage arises through attraction to *karmas*, pulling individuals in different directions.^{७०} In these verses, it is getting clearer that without accepting the plurality of the self, the *Śrīmadbhagavadgītā* itself cannot denote its interpretation about the multiple nature that verily exist from self to self in this imperishable world.

६५. *Śrīmadbhagavadgītā*, 14.18

६६. *Śrīmadbhagavadgītā*, 10.20

६७. *Śrīmadbhagavadgītā*, 15.7

६८. Śaṅkarācārya’s commentary on Ibid.

६९. Ibid.

७०. Rāmānuja’s commentary on Ibid.

The similarities reflected in the discussion between the Sāṃkhya and the SBG in the context of Puruṣa, can be catalogued as follows:

Sl. No.	Nature of Puruṣa in the <i>Srīmadbhagavadgītā</i>	Nature of Puruṣa in Sāṃkhya	Common nature of the Puruṣa that reflects through the terms.
1.	<i>Anādi</i>	<i>Ahetumān</i>	Without any beginning/ cause/ birth/ evolution.
	<i>Aja</i>	<i>Anāśrita</i>	Independent.
		<i>Svatantra</i>	
		<i>Niravayava</i>	Without any form/ parts.
2.	<i>Akartā</i>	<i>Niṣkriya</i>	Inactive
		<i>Aprasavadharmī</i>	Non-productive
3.	<i>Nirguṇa</i>	<i>Aguṇa</i>	Without the three attributes i.e., <i>sattva</i> , <i>rajas</i> and <i>tamas</i> .
		<i>Triguṇādiviparyaya</i>	
4.	<i>Nityam</i>	<i>Nityam</i>	Eternal, Perpetual, Perennial
	<i>Sanātana</i>		
	<i>Śāśvata</i>		
5.	<i>Avināśī</i>	<i>Alinga</i>	Without any end/ destruction/ dissolution.
	<i>Avyaya</i>		
6.	<i>Bhoktā</i>	<i>Bhokṭṛbhāva</i>	Enjoyer, Experiencer
	<i>Goṇabhokṭṛ</i>		

Conclusion:- In this study, the aspect of Sāṃkhya and *Srīmadbhagavadgītā*, is analysed in a descriptive manner depending on the texts and commentaries, which showcases both the similar and dissimilar angles of the same. Both accepts the existence of a conscious Puruṣa in the process of creation and dissolution, where Puruṣa plays an inevitable rule without any form, shape and decay. Being a conscious and eternal element, it helps the matter to bring the cosmic evolutions accordingly, whether in *Srīmadbhagavadgītā*, it is observed under the higher omnipotence of Īśvara, unlike the independent Self of Sāṃkhya. Despite of these positional opposition, the above study showcases the similar characteristics accepted by both systems, under the effective shadow of Sāṃkhya thought.

---O---

Woman and Nature in Kumārasambhava of Kālidāsa

Mayadevi C

Research Scholar, Department of Sanskrit, University of Kerala

Sanskrit literature has a great tradition of nature narrations from very ancient times. Starting from the Vedic literature, ancient Indian writers have given ample importance to nature and natural elements in their works. Nature plays a pivotal role in many literary works. Ancient civilizations were deeply attached to nature. They selected their place for habitat where the nature provides basic needs like water, fresh air as well as suitable environment for agricultural practices. In Vedic literature, natural elements are personified as various deities. Vedic people had a tradition of worshiping nature. So various natural elements have given the form of deities and glorified with their properties. Rivers, forests, air, water, space, earth etc are personified as various deities. This personification clearly shows the strong relationship between man and nature. Not only humans but all living beings are closely related to nature and natural elements. Nature worship has started from the Vedic period. After Vedic period, epics were composed and there started the literary tradition where nature glorified in various literary elements. Then nature and natural elements get placed in literary treatises. Their beauty is aesthetically present with the theme. Human's literary aesthetics has a strong root in nature.

The epics- *Vālmīkirāmāyaṇa* and *Mahābhārata* has a major portion of the story set in the forests. Though, most of the characters are of royal identities but their life in the forest is portrayed in these epics. Both *Kṛṣṇadvaipāyana Vyāsa* and *Vālmīki* have given aesthetically narrated nature in their works. The relationship between the characters of the story and nature gives a splendid beauty to both the epics. These two epics are considered as the major mile stones in Indian literary tradition, that, many literary works in the form of *Kāvya*s, *Mahākāvya*s, Dramas, Stories etc. have adopted their theme from these epics.

Kālidāsa has an exemplary position in the Sanskrit literary world as he is one among the pioneer poets who narrated nature with all its beauty. Later Sanskrit poets are influenced by his writings. The most notable work of *Kālidāsa*, identified as a nature poetry when comes to the area of literary works of ecological importance. This drama

clearly portrays human- nature relationship. The main character of this play *Śakuntalā* is presented as a woman who directly related to the nature or the nature itself. The emotions of this character are compared with the emotions of nature. The poet portrays *Śakuntalā's* character as a girl who is nurtured by the Mother Nature. Indian thoughts on nature itself compares nature with mother as its nurturing characteristics closely resembles with a mother. The word *Prakṛti* used in ancient Indian knowledge system clarifies this thought as everything emerges from the nature or the nature itself is the mother, though the meaning of the word changes accordingly.

Mahākāvya is a literary genre in Sanskrit literature which is composed by following certain rules. *Kālidāsa* composed two *Mahākāvyas* - *Raghuvamśa* and *Kumārasambhava* based on both *Valmīkirāmāyaṇa* and *Mahābhārata*. *Raghuvamśa* narrates the story of the kings of ikṣvaku dynasty. *Kumārasambhava Mahākāvya* has a theme of the love between Siva and *Parvatī* as well as the birth of *Kārtikeya*. Like other works of *Kālidāsa*, *Kumārasambhava* also consists of beautiful narrations of nature. The story set in the regions of Himalaya. The ecology and climate of Himalaya region are clearly depicted in the text. The *Mahākāvya* starts with the narration of the region which is a characteristic feature of *Mahākāvyas* that the *Maṅgalaśloka* may have the narration of the regions where the story happens.

Kālidāsa is popularly known as nature poet due to his beautiful nature narrations in his works. *Abhijanasakuntala* is widely accepted as a nature centered work which narrates the story of Sakuntala along with nature throughout the text. Starting from her birth, she was deeply connected to nature. Hermitage of Sage *Kaṇva* where she spent her life was portrayed beautifully in the drama. This is one of the most popular Sanskrit works, where the warm relationship between woman and nature is portrayed. *Śakuntalā* considered the plants and trees around her penance grove as her own relatives and she frequently communicated them. The hostile animals of that penance grove were also had a warm relationship with her. This is narrated in the text when she leaves the hermitage.

Pārvatī is the main female character in the *Kumārasambhava Mahākāvya*. The penance done by *Pārvatī* for Siva is the portion where the relationship between this character and nature is narrated which is given in the fifth *Sarga*. *Pārvatī* is the daughter of *Himavān*, the King of mountains. *Pārvatī* lived in the palace with all facilities just as a princess. She chooses the life of an ascetic to convince Siva to accept her as his wife. *Pārvatī* lives in a hermitage during her penance. The hermitage is described as follows

विरोधिसत्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि ।

नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥^१

The hermitage was very sacred where the wild animals also lived with harmony. The trees and plants gave plenty of fruits and flowers. Many ascetics came to that region to visit this hermitage. *Pārvatī* lived only on natural elements which also then sacrificed during the last stage of her strong penance. There is a beautiful *Śloka* which clearly depicts the motherly affection towards tree saplings. That is,

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान् घटस्तनप्रसविनी व्यवर्धयन् ।

गुहोपि येषां प्रथमाम्भजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥^२

Here, *Pārvatī* nurtures the small plant just as her child. The poet narrates the motherly affection of the character towards nature. She does not leave this love this love towards them even after the birth of *Kārtikeya*. *Pārvatī* lived very closely or with nature during her penance. Here the loneliness of this character can also be seen. Leaving her parents and all other royal entities, she lives in a lonely mountain area which is inhabited only by forest animals and wandering ascetics.

There she only had the companionship of natural elements and wild animals. She communicated with them and they have given their all love for her during that tough time.

Nature's warm love for *Pārvatī* is clearly shown by the poet in this treatise. Not only for this character of *Pārvatī*, but for the character of the same author *Śakuntalā* also pampered by nature during her tough time like leaving *Kaṇva's* hermitage after her marriage. Here, in *Kumārasambhava*, some warm gestures by nature towards *Pārvatī* is given as,

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिता-स्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।

यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात् पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥^३

Pārvatī gave food for deer with her hands and in return they showed warm love towards her. All these instances can be considered as relief from the pain during her penance. Asceticism itself is a tough practice which is departed from all pleasures. During

१. Kumarasambhava – 5.17

२. Kumarasambhava – 5.14

३. Kumarasambhava – 5.15

that time, *Pārvatī* got empathy from nature and natural elements which helped her to complete the penance.

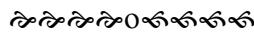
Literary works in all languages have given nature an important role. Sometimes it is compared with the emotions of humans especially women. Nature acts as a warm relief for the pain experienced by the characters. Sometimes beauty of the characters is identified with nature and natural elements by using various similes. The author of this *Mahākāvya* himself is known for his usage of beautiful similes. The characteristics of women and nature is dealt with a particular branch of ecology emerged during nineteenth century known as ecofeminism. Here the oppression of women and exploitation of nature are identified as of same in character. Like this woman and nature relationship has an important role in the area of ecological studies in literature. Though the term Ecofeminism is emerged during modern times the thoughts related to this area of study can be taken from various literary treatises composed during ancient times, that the concept of the relationship between woman and nature is discussed or narrated in ancient Indian literary treatises starting from the epic literature. Most of the characters in ancient Indian literature like *Sītā*, *Draupadī*, *Śakuntalā*, *Pārvatī* etc have close relationship towards nature which are narrated in various treatises. Both characters *Sītā* from *Vālmīkirāmāyaṇa* and *Draupadī* from Mahabharata experienced forest exile. Both these epics has episodes on Kings' forest exile which followed by their wives. They lived in the forest leaving behind all royal facilities. The epics clearly depict the connection of these female characters to nature. In *Kumārasambhava Mahākāvya*, *Pārvatī* experienced heavy rain, heat and snow during her penance period. But she experienced all these with ease as she was strongly engaged in asceticism. The character of *Pārvatī* can be considered as a character of nature personified herself. She is the daughter of Mountain King Himavan and she marries Siva who lives in Kailāsa Mountain. She lived in the lap of nature. *Kālidāsa* also portrays *Pārvatī* as a character closely related to nature. Her happiness and sorrow are connected to nature. *Pārvatī* in *Kumārasambhava* can be considered as a personification of nature portrayed by *Kālidāsa*.

---O---

विद्वल्लेखक-परिचयः

क्रम	नाम	सङ्केतः
1.	प्रो. रमाकान्तपाण्डेयः	कुलपति:- उत्तराखण्डसंस्कृतविश्वविद्यालयः, बहादुराबादः (हरिद्वारम्)
2.	डॉ. नवलकिशोरः,	सहायकाचार्यः, राजकीयः महाविद्यालयः सराजः, लम्बाथाचः, मण्डी (हिमाचलप्रदेशः) E-Mail-drnavalkishor05@gmail.com
3.	डॉ. मृत्युञ्जयरौद्र	सहायकाचार्यः(अंशकालिकः), रामकृष्णमहाविद्यालयः, मधुबनी (बिहारः)
4.	डॉ. श्यामसुन्दरशर्मा	सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, देशबन्धुमहाविद्यालयः, देहलीविश्वविद्यालयः (नवदेहली)
5.	डॉ० छबिलालः न्यौपानेः	सहायकप्राचार्यः (दर्शनम्) नागार्जुन-उमेश-संस्कृतमहाविद्यालयः तरौनीग्रामः, दरभङ्गाजनपदः (बिहारप्रदेशः), chhabilalneupane@hotmail.com 9560754554
6.	डॉ. कंचनतिवारी	सहायकाचार्यः साहित्यविभागे उत्तराखण्डसंस्कृतविश्वविद्यालयः, हरिद्वारम् nagadhiraj7777@gmail.com
7.	डॉ. पूजाश्रीवास्तव	सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागे, महिलामहाविद्यालयः, किदवईनगरं, कानपुरम्
8.	डॉ. शिप्रा	सहायकाचार्यः, संस्कृतविभागः, भक्तदर्शनराजकीयस्नातकोत्तरमहाविद्यालयः जयहरीखालः (पौड़ीगढ़वालः) उत्तराखण्डम् sshipsharma72@gmail.com
9.	डॉ. चिरञ्जीवी अधिकारी,	सहायकाचार्यः, संस्कृतव्याकरणविभागः, कुमारभास्करवर्मसंस्कृतपुरातनाध्ययनविश्वविद्यालयः, नलबारी, असमप्रदेशः
10.	डॉ. विनोदकुमारः,	सहाचार्यः, संस्कृतपालिप्राकृतप्राच्यभाषाविभागः, इलाहाबादविश्वविद्यालयः, प्रयागराजः
11.	आशुतोषः काला	सहायकाचार्यः(अतिथिः), केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, श्रीरणवीरपरिसरः, जम्मू
12.	डॉ.नीरजतिवारी	सहायकाचार्यः, संस्कृतसाहित्यविद्याशाखा के.सं.वि.वि., लखनऊपरिसरः, विशालखण्डः 4, गोमतीनगरं, लखनऊ, neerajtiwaribhu@gmail.com 9140034237
13.	डॉ. पी.आर. अर्चना करनथः	अतिथिव्याख्याता, व्याकरणविभागे, कर्नाटक-संस्कृत-विश्वविद्यालयः, बैंगलूरु 9481904228 archanakarant6@gmail.com
14.	डॉ. अवधेशप्रतापसिंहः	सहायकाचार्यः-संस्कृतविभागे, दिल्लीविश्वविद्यालयः apsingh@sanskrit.du.ac.in
15.	पंकजपाण्डेयः	शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागे, दिल्लीविश्वविद्यालयः, pankajoham@gmail.com
16.	प्रो० रणजित् बेहेरा	आचार्यः, संस्कृतविभागः, दिल्ली-विश्वविद्यालयः, 9911333620 rbehera@sanskrit.du.ac.in
17.	दुर्गाप्रसादरथः	शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, 8144263039 rathd2390@gmail.com
18.	अजयदाधीचः	शोधार्थी, उत्तराखण्डसंस्कृतविश्वविद्यालयः, बहादुराबादः हरिद्वारम् 9399682630, ajaydadchich@gmail.com
19.	देवाशीषबर्मनः	शोधच्छात्रः, संस्कृत विभागः दिल्लीविश्वविद्यालयः दिल्ली, भारतम्
20.	प्रो. मनोज किशोर पन्त	प्रोफेसर, साहित्यविभाग, उत्तराखण्ड संस्कृति विश्वविद्यालय, बहादुराबाद (हरिद्वार)
21.	डॉ. अरुणकुमारमिश्र	सह-आचार्य, संस्कृतविभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय (दिल्ली) 9906905846, dr.mishraakvaidic@gmail.com
22.	मीनाक्षी सिंह रावत	असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा शास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार
23.	डॉ. प्रकाश चन्द्र पंत	एसो. प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय हरिद्वार
24.	डॉ. अमिता पाटिल	पूर्वशोधछात्रा, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय हरिद्वार
25.	प्रो. कौशल पंवार	संस्कृत अनुशासन मानविकी विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
26.	शुभम शर्मा	संस्कृत अनुशासन मानविकी विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

27.	प्रो. पंकज कुमार मिश्र	विभागाध्यक्ष, संस्कृत, सेण्ट स्टीफन्स कॉलेज, दिल्ली pankajkmishra@ststephens.edu 9818466653
28.	डॉ. प्रविन्द्र कुमार	सहायक आचार्य (अ.) पत्रकारिता विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत वि.वि., हरिद्वार
29.	डॉ. धनञ्जय मणि त्रिपाठी	संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली 9799202177, dttripathi@jmi.ac.in
30.	चन्द्रेश	असिस्टेंट प्रोफेसर, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोपेश्वर, चमोली (उत्तराखण्ड)
31.	डॉ. मनोज प्रसाद नौटियाल	असिस्टेंट प्रोफेसर, हे. न. ब. ग. वि. वि. एस.आर.टी. कैपस, टिहरी गढ़वाल
32.	मनमीत कौर	असिस्टेंट लाइब्रेरियन, केंद्रीय पुस्तकालय, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार
33.	डॉ. सूर्य प्रकाश पाण्डेय	सहा. आचार्य(अतिथि) वेद विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
34.	डॉ. नितिन कुमार जैन	सहायकाचार्य (शिक्षाविद्याशाखा), केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर, भोपाल
35.	डॉ. सुमन प्रसाद भट्ट	सहायक आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, उ.सं.वि.वि., हरिद्वार, Email: dr.suman@usvv.ac.in
36.	किरण	शोधार्थी, शिक्षाशास्त्र विभाग, उ.सं.वि.वि., हरिद्वार, rawatkirana165@gmail.com
37.	डॉ. राम करण लुहार	सहायक आचार्य (अ.), संस्कृत विभाग, इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय, दिल्ली drmsrkluhar25@gmail.com
38.	डॉ. सुकान्त आर्य	प्रवक्ता संस्कृत, भेषज पटेल महाविद्यालय, डुडुका, सुन्दरगढ़ sukantaryan@gmail.com
39.	डॉ.श्याम लाल गौड़	सहायक अध्यापक, श्रीजगदेव सिंह संस्कृत महाविद्यालय, सप्तम्रषि आश्रम, हरिद्वार shyamlalgaur11@gmail.com 9368760732
40.	सुनीति त्यागी	शोधार्थी- आई.आई.एम.टी. विश्वविद्यालय, मेरठ 4411suniti@gmail.com
41.	डॉ. पूनम शर्मा	आई.आई.एम.टी. विश्वविद्यालय, मेरठ
42.	ज्योति	शोधार्थी- श्री गुरु रामराय विश्वविद्यालय, देहरादून (उत्तराखण्ड)
43.	सरला जोशी	शोधार्थी- श्री गुरु रामराय विश्वविद्यालय, पटेलनगर देहरादून (उत्तराखण्ड)
44.	सोनालि राउत	शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली वि.वि., 6370967007, sonalirout349@gmail.com
45.	कुनालि राउत	परास्नातक छात्रा, जवाहरलाल नेहरू वि.वि. 9861902212, kunalirout368@gmail.com
46.	शिवांगी	शोधच्छात्रा, जवाहरलाल नेहरू वि.वि., 8756058136, cvangi1702@gmail.com
47.	डॉ. उमेश कुमार शुक्ल,	सहायक आचार्य, भाषा एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान विभाग, उ. सं. वि.वि., हरिद्वार
48.	आशीष कुमार	शोधछात्र, भाषा एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान विभाग, उ. सं. वि.वि., हरिद्वार
49.	Sweta Rawat	Research Scholar, School of Media and Communication Studies, Doon University; reachswetanow@gmail.com
50.	Dr. Suhasini	Fellow, Indian Institute of Advance Study, Shimla, (H.P.) suhasini.pandey8@gmail.com +91-8860566976
51.	Dr. Mridusmita Bharadwaj	Assistant Professor, Sanskrit Department, Pandu College
52.	Dr. Pratiksha Goswami	Research Assistant, Dibrugarh University, Assam 8638176271, pratiksha@gauhati.ac.in
53.	Himadri Sarmah	Research Scholar, Department of Sanskrit, Gauhati University
54.	Mayadevi C	Research Scholar, Department of Sanskrit, University of Kerala



...सिद्धिः...
...सिद्धिः...
...सिद्धिः...

...साममस्त...
...साममस्त...
...साममस्त...

श्रीगणेशाय नमः॥ श्रीगणेशाय नमः॥ श्रीगणेशाय नमः॥
॥ इति प्रथमः प्रारंभः ॥

...कुविः...
...कुविः...
...कुविः...

सं-४
निषत्तमं...
निषत्तमं...
निषत्तमं...

...अरुः...
...अरुः...
...अरुः...



2
॥ सुक्तः ॥
...सुवेनोत्तम...
...सुवेनोत्तम...
...सुवेनोत्तम...

उत्तराखण्डसंस्कृतविश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्

देहली-राष्ट्रियराजमार्गः, बहादुराबादम्, हरिद्वारम्-249402

अणुसंकेतः registrar@usvv.ac.in